मासिक समाचारपत्र ● पूर्णांक 98 ● वर्ष 11, अंक 5 ● जुलाई 2021 ● पाँच रुपये ● 16 पृष्ठ

मज़दूर बिगुल

खेत मज़दूरों के बदतर हालात का ज़िम्मेदार कौन? 10

चीन के लुटेरे शासकों के काले कारनामे महान चीनी क्रान्ति की आभा को मन्द नहीं कर सकते 11

भारत में कम्युनिस्ट आन्दोलन को लेकर कुछ ज़रूरी बातें 13

बेहिसाब बढ़ती महँगाई यानी ग़रीबों के ख़िलाफ़ सरकार का लुटेरा युद्ध !

यह सरकार की जनविरोधी, पूँजी-परस्त नीतियों का नतीजा है

सम्पादक मण्डल

'बहुत हुई महँगाई की मार, अबकी बार मोदी सरकार' के लुभावने नारे से जनता के एक हिस्से को भरमाकर उसके वोट बटोरने के बाद भाजपा की अपनी महँगाई तो दूर हो गयी, मगर आम लोगों पर महँगी क़ीमतों का क़हर टूट पड़ा है। पिछले कुछ वर्षों से ही खाने-पीने और बुनियादी ज़रूरतों की चीज़ों की महँगाई बेरोकटोक बढ़ रही थी। लेकिन पिछले डेढ़ वर्षों में कोरोना महामारी के दौरान उछाले गये मोदी के नारे "आपदा में अवसर" का लाभ उठाकर उद्योगपतियों-व्यापारियों-जमाख़ोरों ने दाम बढ़ाने के सारे रिकॉर्ड तोड़ दिये हैं।

करोड़ों लोगों का रोज़गार छिन जाने और आमदनी घट जाने के कारण इस महँगाई ने देश की तीन-चौथाई से भी अधिक आबादी के सामने जीने का संकट पैदा कर दिया है। खाने-पीने और बुनियादी ज़रूरतों की चीज़ों की महँगाई बेरोकटोक बढ़ी है। सब्ज़ियों से लेकर अनाज, तेल और दूध तक के बेहिसाब बढ़ते दामों ने मेहनतकश जनता के साथ-साथ निम्न मध्यवर्गीय आबादी तक के लिए पेटभर पौष्टिक खाना खा पाना दूभर बना दिया है। पेट्रोल-डीज़ल और रसोई गैस के दामों में लगातार की जारी बेहिसाब बढ़ोत्तरी ने लोगों की कमर पूरी तरह तोड़कर रख दी है। रेल-बस के भाड़े, अस्पताल की फ़ीस-दवाएँ, बिजली-पानी – हर चीज़ में जैसे आग लगी हुई है।

इतनी बड़ी आबादी के लिए जीने का संकट पैदा करने वाली महँगाई अब अख़बारों और टीवी चैनलों की सुर्ख़ियों से बाहर हो चुकी है। गोदी मीडिया लोगों को भरमाने के लिए ऐसी ख़बरें उछालता रहता है कि "पाकिस्तान महँगाई से तबाह" है। लेकिन अपने देश की जानलेवा महँगाई उसे दिखायी नहीं देती।

दरअसल उच्च मध्य वर्ग और खाते-पीते मध्य वर्ग के ऊपरी हिस्से की आमदनी में पिछले कुछ समय से लगातार जो बढ़ोत्तरी हो रही है उसके कारण उन पर इस महँगाई का ज़्यादा असर नहीं होता। दूसरे, इस वर्ग की आमदनी का एक छोटा-सा हिस्सा ही खाने-पीने की चीज़ों पर ख़र्च होता है। इसकी आमदनी का बड़ा हिस्सा मनोरंजन, कपड़ों, कार-बाइक, टीवी-ओवन-फ़्रिज़ जैसे सामानों आदि पर ख़र्च होता है। अर्थव्यवस्था का भट्ठा बैठने से इस वर्ग के एक हिस्से की भी कमाई कुछ कम तो हुई है लेकिन इतनी नहीं कि उन्हें अपने ज़रूरी ख़र्चों में कटौती करनी पड़े। बस उनकी बचत और ऐयाशियों पर कुछ असर पड़ा है।

लेकिन इस महँगाई ने ग़रीबों के लिए तो जीना दूभर बना दिया है। महँगाई ने देश की भारी आबादी के लिए हालात कितने मुश्किल कर दिये हैं इसका अन्दाज़ा लगाने के लिए बस इस तथ्य को याद कर लेना ज़रूरी है कि देश की लगभग तीन-चौथाई आबादी प्रति व्यक्ति सिर्फ़ 30 से 40 रुपये रोज़ाना पर गुज़ारा करती है। देश के क़रीब 50 करोड़ असंगठित मज़दूरों पर महँगाई की मार सबसे बुरी तरह पड़ रही है। शहरों में करोड़ों मज़दूर

(पेज 16 पर जारी)

देश के सभी 'अर्बन नक्सलों' से एक 'अर्बन नक्सल' की कुछ बातें

– कात्यायनी

अब इस बात में संशय का कोई कारण नहीं है कि यह फ़ासिस्ट सत्ता उन सभी आवाज़ों का किसी भी क़ीमत पर गला घोंट देना चाहती है जो नागरिक आज़ादी और जनवादी अधिकारों के पक्ष में मुखर हैं। भीमा कोरेगाँव षड्यंत्र मुक़दमा उसी साज़िश की अबतक की सबसे ख़तरनाक कड़ी है।

फ़ादर स्टैन स्वामी की न्यायिक-सांस्थानिक हत्या के अगले ही दिन 'वाशिंगटन पोस्ट' की भारत संवाददाता निहा मसीह और जोआना स्लेटर की रिपोर्ट के हवाले से यह बात सामने आयी कि अमेरिका के मैसाचुसेट्स स्थित डिजिटल फ़ोरेंसिक फ़र्म 'आर्सेनल कंसल्टिंग' ने भीमा कोरेगाँव मामले में ही, माओवादी षड्यंत्र और प्रधानमंत्री की हत्या की साज़िश में जेल में बन्द आरोपियों में से दो – रोना विल्सन और सुरेन्द्र गडलिंग के डिजिटल रिकॉर्ड्स और ई-मेल की जाँच के बाद पाया है कि किसी हैकर के ज़रिए इन दोनों के कम्प्यूटर में आपत्तिजनक सामग्री डलवायी गयी थी।* आर्सेनल की यह तीसरी रिपोर्ट है। पिछली रिपोर्ट में ही यह बात बतायी गयी थी कि रोना विल्सन के लैपटॉप में हैकर्स ने तीस आपत्तिजनक फ़ाइलें डाल दी थीं। हैकर ने एक ही सर्वर का इस्तेमाल करते हुए ई-मेल के ज़रिए 'नेटवायर' नामक मैलवायर रोना और सुरेन्द्र के लैपटॉप में पहुँचाये। एडवोकेट सुरेन्द्र के कम्प्यूटर में यह मैलवायर दो साल पहले ही पहुँचा दिया गया था।

'वाशिंगटन पोस्ट' की इस रिपोर्ट पर एन.आई.ए. प्रवक्ता अदालती कार्रवाई का हवाला देकर चुप्पी साधे हुए हैं। यहाँ यह याद दिलाना ज़रूरी है कि गिरफ़्तारी से ठीक पहले फ़ादर स्टैन ने यही कहा था कि उनके कम्प्यूटर को हैक करके आपत्तिजनक सामग्री डाली गयी थी। ठीक ऐसी ही बात गौतम नवलखा और आनन्द तेलतुम्बडे ने भी कही थी। लेकिन गोदी मीडिया के सनसनीख़ेज़ "देशद्रोह-देशद्रोह" के क़ातिलाना शोर में इन बातों पर किसी का ध्यान नहीं गया। आर्सेनल की तीन रिपोर्टें आ चुकी हैं, पर भारतीय कुत्ती मीडिया में इनकी कोई चर्चा नहीं हुई।

'वाशिंगटन पोस्ट' की आज की ख़बर की भी कहीं कोई चर्चा नहीं है। आगे इन साक्ष्यों पर अदालत में क्या होगा, यह अभी बताया जा सकता है। न्यायमूर्तिगण यही कहेंगे कि एक विदेशी फ़र्म की रिपोर्ट को प्रामाणिक नहीं माना जा सकता, इसलिए भारत की किसी मान्यता-प्राप्त फ़ोरेंसिक एजेंसी द्वारा जाँच करायी जाये। और जिस देश में चुनाव आयोग, ई.डी., सी.बी.आई. – सभी सरकारी इशारों पर नाच रही हों, जहाँ एन.आई.ए. जैसी एजेंसी भाड़े के हत्यारों के गिरोह की तरह काम करती हो, जहाँ न्यायपालिका सीधे-सीधे फ़ासिस्ट सत्ता की ग़ुलाम बन चुकी हो और जजों के सामने भी बस दो ही विकल्प हों – लोया या गोगोई; उस देश में किसी भी सरकारी या निजी फ़ोरेंसिक फ़र्म से ईमानदार रिपोर्ट की उम्मीद कोई गावदी, जाहिल या अहमक ही करेगा। फ़ासिस्ट प्रचारतंत्र का प्रभाव इतना वर्चस्वकारी है कि प्रिण्ट मीडिया, डिजिटल मीडिया और विशेषकर फ़ेसबुक और व्हॉट्सऐप की सूचनाओं के आम उपभोक्ता यह जानते भी नहीं कि भीमा कोरेगाँव मामला है क्या और कितने हास्यास्पद और फ़र्ज़ी तरीक़े से देश के उन लोगों को इसमें फँसाया गया है जो वहाँ मौजूद होना तो दूर, कभी गये भी नहीं थे। किस तरह हिंसा

(पेज 8 पर जारी)

बजा बिगुल मेहनतकश जाग, चिंगारी से लगेगी आग!

कश्मीरी क़ौम निर्णय में भागीदारी से फिर वंचित

(पेज 7 से आगे)

अन्धराष्ट्रवाद से अपना नाता तोड़ ले। कश्मीर में राष्ट्रीय मुक्ति के लिए लड़ रही शक्तियों का भी यह फ़र्ज़ है कि वे किसी भी प्रकार के बुर्जुआ राष्ट्रवाद से नाता तोड़ें और भारत के मज़दूर वर्ग को अपने शत्रु के तौर पर नहीं बल्कि अपने सबसे मज़बूत दोस्त के तौर पर देखें। यह कश्मीर के राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष के लिए भी सबसे अच्छी बात होगी और भारतीय राज्यसत्ता के विरुद्ध समाजवादी क्रान्ति के लिए भी सबसे अच्छी बात। ऐतिहासिक तौर पर देखें तो हम पाते हैं कि अतीत में भी ऐसी स्थिति सबसे अनुकूल और उपयुक्त रही है। सोवियत रूस में क्रान्ति की सफलता के पीछे मौजूद तमाम कारणों में से एक कारण यह भी था कि बोल्शेविक पार्टी ने लेनिन के नेतृत्व में राष्ट्रीय प्रश्न पर एक सही नीति अपनायी थी। यही कारण था कि लगभग सभी दमित राष्ट्रों ने एक प्रक्रिया में सोवियत संघ में शामिल होने का निर्णय लिया। मज़दूर वर्ग हमेशा बड़े से बड़े राज्य का पक्षधर होता है। लेकिन यह ज़ोर-ज़बर्दस्ती के आधार पर नहीं बनाया जा सकता है। संघी फ़ासीवादी प्रचार कहता है कि कम्युनिस्ट कश्मीर को भारत से अलग करना चाहते हैं। यह बकवास है। कम्युनिस्ट तो आम सहमति से और बिना ज़ोर-ज़बर्दस्ती के अधिकतम सम्भव बड़े राज्य के निर्माण के पक्षधर होते हैं। लेकिन यह राष्ट्रीय दमन के आधार पर किया जाये, तो कम्युनिस्ट सबसे पहले इसका विरोध भी करते हैं।

तमाम क़ौमवादी, संशोधनवादी और सुधारवादी जो कि कम्युनिस्ट मुखौटा लगाये हुए हैं, वे धारा 370 और धारा 35ए के हटाए जाने को संघीय अधिकारों का हनन मानते हैं और भारत को संघ (फ़ेडरेशन) बनाने की वकालत करते हैं। कश्मीरी क़ौम के साथ इससे ज़्यादा ग़द्दारी की और कोई बात नहीं हो सकती है। एक दमित क़ौम दमनकारी देश के भीतर संघीय अधिकार की भीख नहीं चाहती है, वह राष्ट्रीय मुक्ति का अधिकार चाहती है। वैसे तो संघवाद का कार्यक्रम पूरी तरह से एक बुर्जुआ कार्यक्रम है जो कि हर क़ौम के पूँजीपति वर्ग की माँग होता है, लेकिन एक दमित क़ौम के सन्दर्भ में तो ऐसी माँग करना भी राजनीतिक तौर पर घिनौनी और अश्लील बात है। हम मज़दूरों को इस बात की बाबत एकदम स्पष्ट होना चाहिए : हर राष्ट्र को बिना शर्त आत्मनिर्णय का अधिकार है और संघीय ढाँचे की बात करना वास्तव में दमित राष्ट्रों के साथ विश्वासघात से कम नहीं है।

राष्ट्रों को आत्मनिर्णय का अधिकार देने का काम सबसे शानदार तरीक़े से सोवियत संघ ने करके दिखलाया था। अक्टूबर 1917 में समाजवादी क्रान्ति के बाद रूस में मज़दूर वर्ग ने अपनी सत्ता स्थापित की और रूसी साम्राज्य के सभी राष्ट्रों को आत्मनिर्णय का अधिकार और सभी राष्ट्रीयताओं को सुसंगत जनवाद दिया था। लेकिन यह भी स्पष्ट होना चाहिए कि एक दमित राष्ट्र दमनकारी राष्ट्र में समाजवादी क्रान्ति का इन्तज़ार नहीं करता। वह अपनी मुक्ति के लिए लड़ता है और साम्राज्यवादियों की इच्छा के विपरीत वह अपवादस्वरूप परिस्थितियों में जीत भी सकता है और साम्राज्यवाद के ही युग में जीता भी है। उसके लिए जीवन्त प्रश्न राष्ट्रीय मुक्ति का ही होता है और चाहे वह यह राष्ट्रीय मुक्ति अपने दम पर लड़कर जीते या फिर कोई समाजवादी क्रान्ति उसे यह हक़ दे दे, उसके लिए पहला चरण राष्ट्रीय जनवादी कार्यभारों को पूरा करने का ही हो सकता है।

आज हमें कश्मीर की जनता की जनवादी माँगों के समर्थन में खड़ा होना चाहिए, उनके दमन का विरोध करना चाहिए। इतना ही नहीं, तत्काल विसैन्यीकरण की माँग करनी चाहिए क्योंकि संगीनों के साये में और फ़ौजी बूटों के तले वार्ता नहीं होती बल्कि ज़बरन बातें मनवायी जाती हैं, धमकी दी जाती है। न्याय के बिना शान्ति स्थापित नहीं हो सकती और न्याय है जनता को निर्णय का हिस्सा बनाना। उन्हें आत्मनिर्णय का अधिकार देना। मज़दूर क्रान्तिकारियों को हर क़ीमत पर सभी प्रकार के राष्ट्रीय दमन का विरोध करना चाहिए और आत्मनिर्णय के अधिकार व दमित राष्ट्रीयताओं के संघर्षों का बिना शर्त समर्थन करना चाहिए।

धनी किसान आन्दोलन में लग रहे 'मज़दूर-किसान एकता' के नारों के बीच भी जारी है खेत मज़दूरों का शोषण-उत्पीड़न!

(पेज 6 से आगे)

के वर्ग द्वारा इस तरह की मज़दूर वर्ग के ख़िलाफ़ शोषण और विशिष्ट तौर पर दलित खेतिहर मज़दूर आबादी के ख़िलाफ़ जातिगत उत्पीड़न व स्त्री मज़दूरों के विरुद्ध यौन हिंसा की घटनाएँ आम हैं। यहाँ पर ज़मीन के ज़्यादातर मालिक तथाकथित उच्च जातियों (जैसे कि जट्ट) से ताल्लुक़ रखते हैं जबकि ज़्यादातर खेतिहर मज़दूर दलित या प्रवासी हैं। धनी किसान दलित खेत मज़दूरों का न केवल आर्थिक शोषण करते हैं बल्कि उनका अर्थिकेतर दमन व जातीय तौर पर सामाजिक उत्पीड़न भी करते हैं। खेत मज़दूरों के साथ मारपीट, महिला मज़दूरों के साथ छेड़छाड़ और बलात्कार जैसी घटनाएँ पंजाब ही नहीं बल्कि पूरे ग्रामीण आँचल में आम हैं। खेत मज़दूरों के साथ मालिक वर्ग के द्वारा जातिगत भेदभाव भी किया जाता है तथा उनके साथ इन्सान के तौर पर बराबरी का बर्ताव तक नहीं किया जाता। मट्टी गाँव की उपरोक्त पंचायत में भी मज़दूरों को नीचे ज़मीन पर बैठाया गया था जबकि खेत मालिक कुर्सियों पर विराजमान थे। इन्हीं सब कारणों की वजह से पंजाब में दलित खेत मज़दूरों और उच्च जातीय खेत मालिकों के बीच का वर्ग संघर्ष जातीय संघर्षों के तौर पर भी अभिव्यक्त होता है।

अभी हाल ही में पंजाब के सैकड़ों गाँवों में धनी किसानों और कुलकों के द्वारा गाँवों में अपनी जेबी पंचायतों के माध्यम से प्रति एकड़ मज़दूरी तय करते हुए फ़रमान जारी किये गये थे। प्रति एकड़ धान की रोपाई तय करने वाले इन फ़रमानों के द्वारा बहुत से गाँवों में तो मज़दूरी का स्तर पिछले साल से भी 1000-800 रुपये नीचे कर दिया गया है। ऐसे में मज़दूरों का ग़ुस्सा स्वाभाविक है। कोरोना महामारी और इस दौरान केन्द्र और पंजाब की राज्य सरकार के द्वारा थोपे गये अनियोजित लॉकडाउन ने साधनहीन खेत मज़दूरों का जीना दूभर कर दिया है। खेत मज़दूरों के ज़्यादातर परिवार मौसमी खेत मज़दूरी पर ही निर्भर हैं। धनी किसानों और कुलकों के वर्ग के द्वारा खेत मज़दूरी को नाजायज़ तरीक़े से घटाया जा रहा है। यह मज़दूरों के जीने के अधिकार पर हमला है। यही नहीं इन धनी किसानों की पंचायतों के फ़रमान ठीक उस समय आये हैं जब राजधानी दिल्ली की सीमाओं पर पिछले छह महीने से जारी किसान आन्दोलन में "किसान-मज़दूर एकता" के नारे उछाले जा रहे हैं। हाल ही में संयुक्त किसान मोर्चे के धनी किसान नेतृत्व ने पंचायतों द्वारा मज़दूरी तय करने के फ़ैसलों पर ज़ुबानी जमाख़र्च किया था। इसका कारण भी यही था कि इनके लड़खड़ाते आन्दोलन को मज़दूरों के सहारे की अभी ज़रूरत है। लेकिन मज़दूरी के मसले पर इनकी कार्रवाई ज़ुबानी जमाख़र्च तक ही सीमित रहती है और इनका प्रत्यक्ष और परोक्ष समर्थन धनी किसान और कुलक वर्ग के साथ ही रहता है।

"बुर्जुआ अख़बार पूँजी की विशाल राशियों के दम पर चलते हैं। मज़दूरों के अख़बार ख़ुद मज़दूरों द्वारा इकट्ठा किये गये पैसे से चलते हैं।" – लेनिन

'मज़दूर बिगुल' मज़दूरों का अपना अख़बार है।

यह आपकी नियमित आर्थिक मदद के बिना नहीं चल सकता।

बिगुल के लिए सहयोग भेजिए/जुटाइए।

सहयोग कूपन मँगाने के लिए मज़दूर बिगुल कार्यालय को लिखिए।

मज़दूर बिगुल की वेबसाइट
www.mazdoorbigul.net

इस वेबसाइट पर दिसम्बर 2007 से अब तक बिगुल के सभी अंक क्रमवार, उससे पहले के कुछ अंकों की सामग्री तथा राहुल फ़ाउण्डेशन से प्रकाशित सभी बिगुल पुस्तिकाएँ उपलब्ध हैं। बिगुल के प्रवेशांक से लेकर नवम्बर 2007 तक के सभी अंक भी वेबसाइट पर क्रमशः उपलब्ध कराये जा रहे हैं। मज़दूर बिगुल का हर नया अंक प्रकाशित होते ही वेबसाइट पर निःशुल्क पढ़ा जा सकता है।

आप इस फ़ेसबुक पेज के ज़रिये भी 'मज़दूर बिगुल' से जुड़ सकते हैं :
www.facebook.com/MazdoorBigul

'मज़दूर बिगुल' का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

1. 'मज़दूर बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक़ से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफ़वाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'मज़दूर बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और 'बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'मज़दूर बिगुल' स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की क़तारों से क्रान्तिकारी भर्ती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

प्रिय पाठको,

बहुत से सदस्यों को 'मज़दूर बिगुल' नियमित भेजा जा रहा है, लेकिन काफ़ी समय से हमें उनकी ओर से न कोई जवाब मिला और न ही बकाया राशि। आपको बताने की ज़रूरत नहीं कि मज़दूरों का यह अख़बार लगातार आर्थिक समस्या के बीच ही निकालना होता है और इसे जारी रखने के लिए हमें आपके सहयोग की ज़रूरत है। अगर आपको 'मज़दूर बिगुल' का प्रकाशन ज़रूरी लगता है और आप इसके अंक पाते रहना चाहते हैं तो हमारा अनुरोध है कि आप कृपया जल्द से जल्द अपनी सदस्यता राशि भेज दें। आप हमें मनीऑर्डर भेज सकते हैं या सीधे बैंक खाते में जमा करा सकते हैं।

मनीऑर्डर के लिए पता :
मज़दूर बिगुल, द्वारा जनचेतना
डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020
बैंक खाते का विवरण : Mazdoor Bigul
खाता संख्या : 0762002109003787, IFSC: PUNB0185400
पंजाब नेशनल बैंक, अलीगंज शाखा, लखनऊ

सदस्यता : वार्षिक : 70 रुपये (डाकख़र्च सहित); आजीवन : 2000 रुपये

मज़दूर बिगुल के बारे में किसी भी सूचना के लिए आप हमसे इन माध्यमों से सम्पर्क कर सकते हैं :

फ़ोन : 0522-4108495, 9721481546
ईमेल : bigulakhbar@gmail.com
फ़ेसबुक : www.facebook.com/MazdoorBigul

मज़दूर बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय	: 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 फ़ोन: 9721481546
दिल्ली सम्पर्क	: बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली-90, फ़ोन: 8860792320
ईमेल	: bigulakhbar@gmail.com
मूल्य	: एक प्रति – 5/- रुपये वार्षिक – 70/- रुपये (डाक ख़र्च सहित) आजीवन सदस्यता – 2000/- रुपये

अडाणी को 1 लाख 70 हज़ार एकड़ प्राचीन जंगल माइनिंग के लिए सौंपने वाली मोदी सरकार फ़रीदाबाद में दशकों से बसे हज़ारों घरों को वन संरक्षण के नाम पर उजाड़ रही है!

कॉरपोरेट घरानों के लिए लाखों हेक्टेयर जंगलों और पर्यावासों की तबाही पर आँखें मूँदे सुप्रीम कोर्ट और बिल्डरों के हाथों अरावली की पहाड़ियों का नाश कराने वाली हरियाणा सरकार डेढ़ लाख से भी ज़्यादा आबादी को कोरोना काल में बेघर करने पर आमादा!!

– लता

पिछले महीने की सात तारीख़ को सुप्रीम कोर्ट ने दिल्ली-हरियाणा सीमा पर फ़रीदाबाद ज़िले के लाल कुआँ इलाक़ा स्थित खोरी गाँव के दस हज़ार से ज़्यादा घरों को बिना किसी पुनर्वासन या मुआवज़े के तोड़ने का फ़ैसला फिर से दुहराया। अपने निर्णय पर अड़े रहते हुये हरियाणा सरकार व फ़रीदाबाद नगर निगम को छह हफ़्ते के अन्दर बेदख़ली प्रक्रिया पूरी करने का निर्देश दिया है।

गाँव को उजाड़ने के लिए सुप्रीम कोर्ट के आदेश के ख़िलाफ़ स्थानीय जनता लगातार लड़ रही है। 30 जून को एक जुझारू प्रदर्शन किया गया। बिगुल मज़दूर दस्ता सहित विभिन्न जन संगठनों के कार्यकर्ता भी खोरी की मेहनतकश अवाम को समर्थन देने के लिए प्रदर्शन में शामिल हुए थे। खट्टर की पुलिस ने प्रदर्शनकारियों पर बर्बर लाठी चार्ज किया और कई लोगों को हिरासत में ले लिया जिन्हें देर रात छोड़ा गया। गाँव तक जाने के रास्तों पर भारी पुलिस बैरीकेडिंग की गयी है।

खोरी गाँव के क़रीब 20,000 घरों को उजाड़ने की सरकारी कार्रवाई के विरोध में 30 जून को हुई रैली में किसान नेता गुरनाम सिंह चढ़ूनी और कई संगठनों के लोग पहुँचे थे। मीडिया में भी रैली और पुलिसिया दमन की कुछ कवरेज आयी। लेकिन उसके बाद ज़मीनी स्तर पर प्रचार, एकजुटता और संघर्ष की तैयारी का जो काम था, उसमें बिगुल मज़दूर दस्ता सहित चन्द लोगों को छोड़कर सभी नदारद रहे।

इस बीच सबसे ख़तरनाक काम यह हुआ कि कुछ संशोधनवादियों और एनजीओ मार्का संगठनों ने बस्ती को उजड़ने से बचाने के संघर्ष को बीच में ही तिलांजलि देकर "पुनर्वास" का राग अलापना शुरू कर दिया। 7 जुलाई को खोरी में एक बड़ी जुटान करने का फ़ैसला हुआ था ताकि अदालत और सरकार को बताया जा सके कि पूरे इलाक़े की आबादी अपने घरों को बचाने के लिए एकजुट है, न कि सिर्फ़ थोड़े से लोग ऐसा चाहते हैं जैसाकि मीडिया में प्रचार किया जा रहा है। लेकिन बस्ती के बाहर हरियाणा भवन या किसी अन्य जगह पर चुपचाप की गयी मीटिंगों में मनमाने ढंग से इस फ़ैसले को पलटकर बता दिया गया कि 6 तारीख़ को प्रधानमंत्री आवास का घेराव किया जायेगा जिसमें पुनर्वास की माँग उठायी जायेगी। 6 जुलाई को जन्तर-मन्तर पर प्रदर्शन के बाद यह प्रचार किया गया कि 7 तारीख़ का प्रदर्शन रद्द कर दिया गया है।

इन संगठनों की ओर से यह भी प्रचार किया जा रहा है कि "बाहर से आये" कुछ संगठन "अपना अलग एजेण्डा" लेकर चल रहे हैं और बस्ती के लोगों को इनका साथ नहीं देना चाहिए। हालाँकि ये सभी लोग ख़ुद भी "बाहरी" ही हैं।

1 जुलाई को खोरी गाँव के स्थानीय प्रतिनिधियों और विभिन्न जनसंगठनों के प्रतिनिधियों को लेकर गठित की गयी संघर्ष समिति की बैठक में लिये गये फ़ैसले के मुताबिक़ पूरे इलाक़े में गली-गली मीटिंग करके मोहल्ला कमेटियों का गठन करना था जिससे कि इलाक़े की जनता को पूरे हालात की जानकारी दी जा सके और आन्दोलन के आगे के क़दमों में लोकतांत्रिक तरीक़े से उनकी भागीदारी हो सके। इसके तहत बिगुल मज़दूर दस्ता और कुछ संगठनों के साथियों ने 2 से 4 जुलाई तक सुबह 6 बजे से लेकर रात तक पूरे इलाक़े में लगातार सघन अभियान चलाते हुए लगभग सभी मोहल्लों की मोहल्ला कमेटियों के गठन का काम पूरा कर लिया। हालाँकि मीटिंग में आने वाले संगठनों में से ज़्यादातर बस पहले दिन ही इस अभियान में शामिल रहे, वह भी आधे-अधूरे ढंग से। बिगुल मज़दूर दस्ता और एक-दो अन्य संगठनों के साथी पुलिस की दबिश और घेरेबन्दी के बावजूद बस्ती में ही रुककर स्थानीय नागरिकों के लगातार सम्पर्क में रहते हुए 7 जुलाई की मीटिंग की तैयारी में लगे रहे। पुलिस की घेरेबन्दी और मीटिंग रद्द होने के झूठे प्रचार के बावजूद सैकड़ों लोग बस्ती में हुई सभा में शामिल हुए और खोरी गाँव के लोगों की इन माँगों पर ज़ोर दिया –

1. जहाँ झुग्गी वहीं मकान, खोरी को नियमित करो। 2. जिन मज़दूरों के घरों को तोड़ा गया है, उनको सरकार मुआवज़ा दे। 3. बिजली, पानी की सप्लाई तुरन्त बहाल करो। 4. पानी, बिजली की कमी के कारण जितने भी मज़दूरों की मौत हुई, उनके परिजनों को सरकार मुआवज़ा दे।

फ़रीदाबाद के खोरी गाँव के हज़ारों घर टूटने की सिर पर लटकी हुई तलवार से परेशानहाल खोरी की जनता अभी भी बड़े नेताओं और मंत्रियों से उम्मीद लगाये थी लेकिन 8 जुलाई को इस उम्मीद को एक बड़ा झटका लगा है और इन बड़े नेताओं की असलियत बहुत हद तक उजागर हुई है। फिर भी कई ऐसे लोग हैं जिन्हें इन नेताओं से उम्मीदें हैं।

8 जुलाई के विरोध प्रदर्शन का आह्वान पहले भाजपा सांसद और अब कांग्रेसी नेता उदित राज के लोगों ने किया था। प्रदर्शन के दौरान इन लोगों का पूरा व्यवहार यह साबित कर रहा था कि लोगों को जन्तर-मन्तर पर बुलाने का मक़सद सरकार तक बात पहुँचाना नहीं बल्कि मीडिया में चर्चा करवाकर भांजे संजय राज और बहू मीनू वर्मा का राजनीतिक भविष्य सुधारना था। दिल्ली ले जाने के लिए जनता को झूठी उम्मीद दी गयी थी कि इस प्रदर्शन के बाद उनकी झुग्गियाँ बच जायेंगी, पर वहाँ से बुरी तरह हताश होकर लौटे लोगों के बीच पस्तहिम्मती बढ़ गयी है। ऐसे में खट्टर सरकार ने बस्ती के बाहर बुलडोज़र तैनात करके और पहले से टूटे मकानों का मलबा उठाने के लिए गाड़ियाँ भेजकर लोगों पर मनोवैज्ञानिक दबाव बनाना भी शुरू कर दिया है।

तमाम दबावों के बावजूद खोरी की मेहनतकश जनता अपने घरों को बचाने के लिए लड़ने पर कमर कसे हुए है। ख़ासकर यहाँ की स्त्रियाँ पूरे जोशो-ख़रोश से लड़ने को तैयार हैं।

दशकों से खोरी में बसे हैं हज़ारों घर और क़रीब डेढ़ लाख लोग

सुप्रीम कोर्ट के फ़ैसले के अनुसार खोरी गाँव अरावली पर्वत श्रृंखला के जंगलों का हिस्सा है और यहाँ बसे दस हज़ार से ज़्यादा घर सरकारी ज़मीन पर अवैध अतिक्रमण हैं। पंजाब भूमि संरक्षण अधिनियम 1900 का हवाला देकर सुप्रीम कोर्ट ने कहा है कि अरावली जंगलों का हिस्सा होने के कारण यहाँ के सभी मकान ग़ैर-क़ानूनी हैं और जंगल व भू-संरक्षण के हित में मकानों के निवासियों को वहाँ से हटाये जाने का फ़रमान ज़ारी किया है। तथ्य यह है कि इस क्षेत्र में दस हज़ार ही नहीं बल्कि इससे बहुत अधिक संख्या में घर हैं जिनमें डेढ़ लाख से अधिक की आबादी रहती है। हालाँकि फ़रीदाबाद नगर निगम सितम्बर 2020 में 1700 झुग्गी और अप्रैल 2021 में 300 से ज़्यादा झुग्गियों पर बेरहमी से बुलडोज़र चला चुकी है लेकिन सुप्रीम कोर्ट इस जनता को उनके घर बार से वंचित करने की इस गति से संतुष्ट नहीं है। यद्पि जन दबाव के कारण हरियाणा सरकार अब तक सभी झुग्गियों को उजाड़ने में असफल रही है लेकिन सुप्रीम कोर्ट के इस आदेश पर कि किसी भी प्रकार का बल प्रयोग कर जनता को यहाँ से हटाया जाये, अब प्रशासन बन्दूक़ की नोक पर झुग्गियों को तोड़ने के लिए एक बार फिर कमर कस चुका है। सुप्रीम कोर्ट यहाँ की आम मेहनतकश आबादी के पुनर्वासान का कोई पुख़्ता इन्तज़ाम किये बग़ैर लगातार झुग्गियाँ उजाड़ने के लिए हरियाणा सरकार पर दबाव बना रहा है, साथ ही यहाँ की जनता को 'अतिक्रमणकारी' बताते हुए यह इशारा कर रहा है कि इन्हें पुनर्वासन की कोई सुविधा नहीं मिलनी चाहिए।

खोरी गाँव के बसने की शुरुआत 1970 के दशक में हुई थी। पिछले पचास सालों से यहाँ के भू-माफ़िया और दलाल मेहनतकश मज़दूर आबादी को यह सरकारी ज़मीनें ग़ैर-क़ानूनी रूप से बेचते रहे। पास की पत्थर खदानों में काम करने वाले मज़दूरों ने यहाँ की असमतल भूमि को अपने हाथों से समतल बनाया, गड्ढों और खाइयों को भरकर अपने मकान बनाये। बेहतर रोज़गार की तलाश में गाँव से शहरों में आने वाले प्रवासी मज़दूर भी खोरी गाँव में लगातार ज़मीन ख़रीदकर बसते रहे। यहाँ की मेहनतकश आबादी ओखला, बदरपुर और फ़रीदाबाद औद्योगिक क्षेत्रों में अपना हाड़-माँस गलाती है।

मज़दूर मेहनतकश आबादी के यहाँ बसने की प्रक्रिया में मुनाफ़ा पीटने वालों में पुलिस, वन विभाग, फ़रीदाबाद नगर निगम और हरियाणा सरकार सभी शामिल थे। और यह बसाहट ही इनकी मिलीभगत से हो रही थी। स्थानीय लोगों का कहना है कि अगर यहाँ कोई अपने घर में एक ईंट भी कभी जोड़ता है तो पुलिस आकर उससे हज़ारों रुपये की वसूली कर ले जाती है। यहाँ के ज़्यादातर निवासियों के पहचान पत्र खोरी गाँव के पते पर ही बने हैं। इनके पास यहाँ का ही चुनाव पहचान पत्र है और ये चुनावों में मतदान भी करते आ रहे हैं। कई घरों को सरकारी बिजली और पानी की सुविधाएँ भी उपलब्ध हैं। इन तथ्यों के आधार पर खोरी गाँव के निवासियों का यह सवाल जायज़ है कि अगर उनके मकान ग़ैर-क़ानूनी थे तो उन्हें ये सारी सरकारी सुविधाएँ और क़ानूनी पहचान हासिल कैसे हुई? और अगर अरावली के जंगलों में होने के कारण यहाँ कोई भी निर्माण ग़ैर-क़ानूनी था तो सरकार ने पचास साल इन घरों को बनने ही क्यों दिया? जब ये गाँव बस रहे थे तब सरकार और न्यायालय ने भू-माफ़ियाओं को क्यों नहीं रोका? जब मज़दूर-मेहनतकश आबादी ने ख़ून-पसीने की कमाई, क़र्ज़-उधार लेकर, अपने गाँव के घर-ज़मीन बेचकर ज़मीन ख़रीदी तो न्यायालय और सरकार को अब यह भूमि अतिक्रमण लगने लगा है? इसी अरावली जंगल के इलाक़े में बने पाँच-सितारा होटल, शॉपिंग कॉम्प्लेक्स, फ़ार्म हाउस आदि पर तो सुप्रीम कोर्ट को कोई आपत्ती नहीं है, उनके ख़िलाफ़ तो कोई कार्रवाई नहीं

(पेज 4 पर जारी)

दिल्ली के उद्योग नगर में मज़दूरों के हत्याकाण्ड का ज़िम्मेदार कौन?

– भारत

एक बार फिर ये साबित हो गया कि पूँजीवादी व्यवस्था में मज़दूरों की अहमियत कीड़े-मकोड़ों से ज़्यादा नहीं है। बीते 21 जून को दिल्ली के पीरागढ़ी स्थित उद्योग नगर औद्योगिक क्षेत्र में जूता कारख़ाने में भीषण आग लग गयी, जिसमें 6 मज़दूरों की जानें चली गयीं। सरकार और मालिक की लापरवाही का आलम यह है कि उन मज़दूरों की लाशों को सात-आठ दिन बीतने के बाद धीरे-धीरे निकाला गया। जब आग लगी तब फ़ैक्टरी में 12 मज़दूर मौजूद थे। मालिक ने जेल की तरह सारे दरवाज़ों पर ताला लगा रखा था, जिस कारण मज़दूर आग लगने के वक़्त भाग भी न सके और वहीं आग में जलकर मर गये। यहाँ कार्यरत ये मज़दूर महज़ 7000-8000 रुपये के वेतन पर कारख़ानों में खटते थे। इससे पहले भी इस कारख़ाने में दो बार आग लग चुकी है, उसके बावजूद न तो मालिक और न ही सरकार ने सुरक्षा का इन्तज़ाम करना ज़रूरी समझा। ये महज़ एक दुर्घटना नहीं बल्कि मालिकों द्वारा की गयी हत्या है।

इस हत्याकाण्ड का ज़िम्मेदार कौन है? सबसे पहले ये फ़ैक्टरी मालिक जो मज़दूरों के हाड़-माँस को काट-काटकर मुनाफ़ा कमाना चाहते हैं! उद्योग नगर से लेकर दिल्ली और पूरे देश के कारख़ाने असल में कसाईख़ाने हैं, जहाँ मज़दूर अपना माँस मालिक को 200 रुपये दिहाड़ी पर बेचने को मजबूर हैं। इन्हीं जोंकों के पैसे से तमाम पूँजीवादी चुनावबाज़ पार्टियाँ चुनाव लड़ती हैं। इन्हीं के नेता-मंत्री केन्द्र सरकार, राज्य सरकार और नगर निगम में बैठते हैं। वे ही इस हत्या, लूट और शोषण को क़ानूनी जामा पहनाते हैं! उद्योग नगर में जो हुआ वह हादसा नहीं, इन्हीं कफ़नखसोटों और मुर्दाख़ोरों द्वारा अंजाम दिया गया हत्याकाण्ड है।

अभी कुछ दिन पहले ही पुणे के कारख़ाने में आग लगने से कई मज़दूरों की मौत हुई थी। इसी तरह की आग इससे पहले साल 2018 की जनवरी में बवाना के सेक्टर-5 में लगी थी, और ये सिलसिला अब तक जारी है, नरेला से लेकर झिलमिल, पीरागढ़ी, अनाजमण्डी तक में और पूरे देश भर के कारख़ानों में आग लगती रहती है। परन्तु ऐसे हादसों को बार-बार होने से रोकने के लिए अवैध कारख़ानों पर कोई कार्रवाई नहीं होती। कहने के लिए श्रम विभाग, लेबर इंस्पेक्टर, फ़ैक्टरी इंस्पेक्टर होते हैं, लेकिन कारख़ानों की जाँच करने के बजाय वे नियम से आते हैं और मालिकों के फेंके टुकड़े उठाकर चलते बनते हैं, कारख़ानों के भीतर तक नहीं जाते।

कारख़ानों में सुरक्षा के इन्तज़ामों पर ग़ौर करें तो स्पष्ट होगा कि ये कारख़ाने रोज़-रोज़ मज़दूरों की जान ले रहे हैं। कारख़ानों में बुनियादी दस्तानों से लेकर जूते तक नहीं दिये जाते और केमिकल वाले काम भी मज़दूर नंगे हाथों से ही करते हैं। फ़ैक्टरियों में हवा की निकासी तक के लिए कोई उपकरण नहीं लगाये जाते, जिस वजह से हमेशा धूल-मिट्टी और उत्पादों की गन्ध के बीच मज़दूर काम करते हैं। इस कारण जवानी में ही मज़दूरों को बूढ़ा बना दिया जाता है और दस-बीस साल काम करने के बाद ज़्यादातर मज़दूर ऐसे मिलेंगे जिन्हें कारख़ानों में बदतर हालात होने के कारण फेफड़ों से लेकर चमड़ी की या कोई न कोई अन्य बीमारी होती है।

दिल्ली में बसे 29 औद्योगिक क्षेत्रों के हालात यह हैं कि किसी भी कारख़ाने में सुरक्षा के नियम-क़ानून लागू नहीं होते। ऊपर से केजरीवाल नौटंकी करता है कि उसने मज़दूरों की ज़िन्दगी बदल दी और उनका वेतन बढ़ा दिया। काग़ज़ों में वेतन बढ़ोत्तरी की घोषणा के बाद अब 8 घण्टे के कार्य दिवस के हिसाब से अकुशल मज़दूरों का वेतन 15,492 से बढ़कर 15,908 रुपये, अर्धकुशल मज़दूरों का वेतन 17,069 से बढ़कर 17,537 रुपये और कुशल मज़दूरों का वेतन 18,797 से बढ़कर 19,291 रुपये हो गया है। पर असलियत तो हम सब जानते हैं कि दिल्ली में काम कर रहे करोड़ों मज़दूरों पर इससे रत्ती भर भी फ़र्क़ नहीं पड़ेगा क्योंकि पूरी दिल्ली के औद्योगिक क्षेत्रों में श्रम क़ानून लागू ही नहीं होते। दिल्ली के अन्दर एक बड़ी आबादी घरेलू कामगारों की है, जिनके लिए न्यूनतम वेतन एक खोखले शब्द के अलावा कुछ है ही नहीं। एक तरफ़ मज़दूरों से लेकर कामगारों की बड़ी आबादी रोज़ 200 रुपये में अपना हाड़-माँस गलाती है और बदतर हालात में जीने को मजबूर है, वहीं दूसरी तरफ़ केजरीवाल मज़दूरों का 'मसीहा' बनने की नौटंकी कर रहा है।

यह है नौटंकीबाज़ केजरीवाल, जिसकी पार्टी असल में दिल्ली के बड़े व्यापारियों, पूँजीपतियों की सेवा करती है, पर वोट लेने के लिए मज़दूरों से झूठे वादे करती है। आजकल जब भी जनता केजरीवाल को उसके वादे याद दिलाती है, तो वह यह कहकर बच निकलने की कोशिश करता है कि केन्द्र में बैठी मोदी सरकार इसे कुछ करने नहीं दे रही है। लेकिन यहाँ ग़ौरतलब बात यह है कि श्रम विभाग केजरीवाल सरकार के पास है और न्यूनतम वेतन लागू करने और सुरक्षा के इन्तज़ाम कारख़ानों में लागू करने के लिए इसे मोदी सरकार से मंज़ूरी लेने की कोई आवश्यकता नहीं है, फिर भी इतने लम्बे कार्यकाल में इन्होंने कहीं भी कोई श्रम क़ानून लागू क्यों नहीं कराया? ज़ाहिर सी बात है कि श्रम क़ानून लागू करने की इस सरकार की कोई मंशा नहीं है, इन्होंने सिर्फ़ नौटंकी की है और मज़दूरों को धोखा देने के अलावा और कोई काम नहीं किया है।

केजरीवाल के कई ऐसे विधायक हैं जो ख़ुद ही फ़ैक्टरी मालिक हैं और उनकी फ़ैक्टरियों में कोई श्रम क़ानून लागू नहीं होता है।

ऊपर से मोदी सरकार मज़दूरों के श्रम क़ानूनों को ख़त्म करने की योजना बना रही है, जिससे आने वाले समय में क़ानूनी तौर पर मालिक मज़दूर को ग़ुलाम बना लेंगे। केन्द्र में बैठी मोदी सरकार जो मज़दूरों की घोषित तौर पर दुश्मन है, जो कि सिर्फ़ जुमलेबाज़ी कर पूँजीपतियों की सेवा करती है और इस सब से जनता का ध्यान हटाने के लिए जाति-धर्म के नाम पर बाँटकर आपस में लड़ाने में लगी हुई है। इसलिए इन मौतों के लिए यह समूची मुनाफ़ाख़ोर व्यवस्था ज़िम्मेदार है, जो कारख़ानेदारों के मुनाफ़े को बचाने के लिए प्रतिबद्ध है।

जब इस कोरोना संकट के समय सरकार को मज़दूरों को आर्थिक व स्वास्थ्य सम्बन्धी सुरक्षा देनी चाहिए, सवैतनिक अवकाश देना चाहिए, तब मज़दूरों को काम पर भेजा जा रहा है। ऊपर से मालिकों ने लॉकडाउन का वेतन तक नहीं दिया और जब काम पर भी जाते हैं तो कारख़ानों में सुरक्षा के कोई इन्तज़ाम नहीं हैं। इन मुनाफ़ाख़ोरों ने मज़दूरों को भूख और बीमारी से मरने के लिए छोड़ दिया है।

इसी के ख़िलाफ़ भारत की क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी के नेतृत्व में मज़दूरों को संगठित कर पहले इलाक़े के विधायक का घेराव किया गया और इसके बाद मुख्यमंत्री केजरीवाल को भी ज्ञापन दिया गया और चेताया गया कि अगर तत्काल माँगें नहीं मानी जाती तो आने वाले समय में इसके ख़िलाफ़ बड़ा आन्दोलन किया जायेगा। माँगें इस प्रकार थीं:

- कारख़ानों में सुरक्षा के पुख़्ता इन्तज़ाम किये जायें व श्रम क़ानून तत्काल लागू किये जायें।

- दोषी मालिकों को कड़ी से कड़ी सज़ा दी जाये।

- मारे गये मज़दूरों के परिवार को 50 लाख रुपये मुआवज़ा दिया जाये।

फ़रीदाबाद में दशकों से बसे हज़ारों घरों को उजाड़ने पर आमादा मोदी और खट्टर सरकार

(पेज 3 से आगे)

हो रही है।

यह बात समझने में ज़्यादा कठिन नहीं है कि सरकार और न्यायालय मेहनतकश जनता की झुग्गियों के प्रति और बड़े-बड़े पूँजीपतियों के पाँच-सितारा होटल और शॉपिंग कॉम्प्लेक्स आदि के प्रति दोहरा रवैया क्यों अपना रही है। सरकार, न्यायालय, पुलिस, वन विभाग आदि सभी इस पूँजीवादी राज्य तंत्र के ही अलग-अलग पुर्ज़े हैं जिनका बस एक ही मक़सद है – अपने पूँजीपति आक़ाओं का हित साधना, चाहे इसके लिए उन्हें मेहनतकश जनता के बच्चों पर बुलडोज़र ही क्यों न चलाना पड़े।

दक्षिण दिल्ली से सटा ओखला व फ़रीदाबाद जैसे बड़े औद्योगिक क्षेत्रों के बीच पड़ने वाला खोरी गाँव का इलाक़ा बड़े पूँजीपतियों के लिए सोने की चिड़िया से कम नहीं है। आज जब दिल्ली सरकार दिल्ली से सभी मैन्युफ़ैक्चरिंग युनिट हटाने की बात कर उसे सर्विस सेक्टर में बदलने की बात कर रही है तो दिल्ली से लगा यह क्षेत्र उद्योगपतियों के लिए सुनहरा अवसर है। यही कारण है कि बहुत पहले से ही हरियाणा सरकार हज़ारों घरों को रौंद कर इस पूरे इलाक़े को पूँजीपति आक़ाओं को भेंट देने के फ़िराक़ में है। सुप्रीम कोर्ट ने इस काम को सुगम बना दिया है। यह बात समझनी होगी कि खोरी गाँव का यह मामला जनता और पर्यावरण के बीच का अन्तर्विरोध नहीं है, बल्कि पूँजी और श्रम के बीच का अन्तर्विरोध है। पर्यावरण संरक्षण अगर असली मुद्दा होता तो सुन्दरवन मैन्ग्रोव को पूँजी का खुला चारागाह नहीं बनने दिया जाता और न ही उत्तराखण्ड के पहाड़ों-जंगलों को बिना पर्यावरण नुक़्सान का मूल्यांकण किये रिलायन्स को सुपुर्द कर दिया गया होता।

सुप्रीम कोर्ट के पिछले महीने के आदेश के बाद हरियाणा सरकार ने पूरे गाँव को एक पुलिस छावनी में तब्दील कर दिया है। गाँव से अन्दर और बाहर निकलने के रास्तों पर पुलिस की सख़्त नाकाबन्दी है। लोगों को इस गर्मी में परेशान करने के लिए पूरे गाँव में एक महीने से बिजली और पानी काट दिया गया है और यहाँ तक कि मोबाइल नेटवर्क को भी इतना सीमित कर दिया गया है कि फ़ोन पर बात करना भी मुश्किल है।

महामारी और अनियोजित लॉकडाउन के कारण बेरोज़गारी और भुखमरी से पहले ही जूझ रही जनता के ऊपर यह एक और गाज आ गिरी है। इस भीषण गर्मी और महामारी के दिनों में बच्चों, बीमार बुज़ुर्गों और गर्भवती महिलाओं को बिजली और पानी से महरूम रख कर तड़प-तड़प कर मरने के लिए मजबूर करना इस न्याय व्यवस्था और सरकारों के मानवद्रोही चरित्र को नंगा कर देता है। ऑनलाइन शिक्षा के आज के समय में बिना मोबाइल चार्ज किये या नेटवर्क के पढ़ाई करना नामुमकिन है। आप सोचिए कि क्या मोबाइल नेटवर्क को काटकर यह सरकार और न्यायालय इन मज़दूर-मेहनतकशों के बच्चों की ज़िन्दगियाँ बर्बाद नहीं कर रही है?

सरकार और न्यायालय के इस अमानवीय बर्ताव से त्रस्त होकर गाँव के पाँच निवासियों ने आत्महत्या कर ली है और एक बुज़ुर्ग की गर्मी से मौत हो गयी। ये आत्महत्याएँ या साधारण मौत नहीं हैं बल्कि पूँजीवादी राज्य द्वारा की गयी निर्मम हत्याएँ हैं। नाकेबन्दी के साथ-साथ गाँव में पुलिसिया दमन भी जारी है। गाँव में दहशत का माहौल छाया हुआ है। आये दिन पुलिस अपने मुख़बिरों को सादे कपड़ों और पत्रकार के रूप में गाँव में भेज रही है और अफ़वाहें फैलायी जा रही हैं।। पुलिसिया दमन और क्रूर अमानवीय नाकेबन्दी के बावजूद खोरी गाँव की मेहनतकश आबादी अपने घरों को बचाने के लिए डट कर खड़ी है और वह बन्दूक़, बुलडोज़र और राज्य के किसी भी हथकण्डे का सामना करने के लिए तैयार है।

खोरी गाँव की यह लड़ाई अकेले उस गाँव की लड़ाई नहीं है। यह सभी मेहनतकशों की आवास के अधिकार की लड़ाई का एक हिस्सा है। हर दिन देश के कई शहरों में मेहनतकश लोगों के घरों-बस्तियों को तोड़कर उसे सड़कों पर बेसहारा छोड़ दिया जाता है। कभी जंगल के नाम पर, तो कभी रेलवे के नाम पर, कभी मेट्रो के नाम पर तो कभी चौड़ी सड़क के नाम पर, इस व्यवस्था के पास हमें बेघर करने के हज़ारों बहाने होते हैं। आज हमें अपने आवास के अधिकार के लिए एक साथ मिलकर सड़कों पर उतरना होगा। आवास के अधिकार की लड़ाई जीने के अधिकार के साथ जुड़ी हुई है और यह मानवीय जीवन की एक मूलभूत शर्त है। आज समय आ गया है कि हम यह ऐलान करें कि हम कोई जानवर या मशीन नहीं हैं, हम भी इन्सान हैं और सम्मानपूर्वक ज़िन्दगी जीना हमारा अधिकार है। इस अधिकार को हमसे कोई नहीं छीन सकता।

मज़दूरों की लूट और बढ़ाने के लिए अब अप्रेण्टिस क़ानून में बदलाव की तैयारी

अब 15 प्रतिशत तक अप्रेण्टिस स्टाफ़ रख सकेंगी कम्पनियाँ

– केशव आनन्द

मोदी सरकार के केन्द्र में सत्तासीन होने के बाद से ही लगातार मज़दूर विरोधी नीतियों को लागू किया जा रहा है। तमाम श्रम क़ानूनों को ढीला करने का काम किया जा रहा है। इसी कड़ी में यह सरकार अप्रेण्टिस क़ानून में बदलाव की तैयारी कर रही है। यह अनुमान है कि आने वाले मानसून सत्र में यह सरकार अप्रेण्टिस क़ानून में बदलाव से जुड़े बिल को मंज़ूरी के लिए ला सकती है। इस नये क़ानून के आने के बाद कोई भी कम्पनी 15 फ़ीसदी तक अप्रेण्टिस स्टाफ़ रख सकती है, जबकि पहले इन कम्पनियों को 10 फ़ीसदी से अधिक अप्रेण्टिस स्टाफ़ रखने की मंज़ूरी नहीं थी।

इसके अलावा अप्रेण्टिसशिप को मैन्युफ़ैक्चरिंग और सेवा क्षेत्र के बाद अब व्यापार और वाणिज्य तक विस्तारित करने की योजना भी बनायी जा रही है। इसके पीछे यह तर्क दिया जा रहा है कि अधिक से अधिक युवाओं को कौशल विकास प्रशिक्षण के ज़रिए नौकरी मिलेगी। आइए, इस तर्क का भी विश्लेषण करते हैं। बताया जा रहा है कि वर्ष 2014 में सेवा क्षेत्र को अप्रेण्टिसशिप के दायरे में लाने के बाद रोज़गार प्राप्त करने वाले युवाओं की संख्या बढ़ी और वर्ष 2020-21 में 1.25 लाख युवाओं ने नौकरी करते हुए कौशल विकास का प्रशिक्षण लिया। अब आँकड़ों को देखकर तो ज़ाहिरा तौर पर यह प्रश्न उठता है कि अप्रेण्टिसशिप से अगर लाखों युवाओं को रोज़गार मिला है, तो इसमें ग़लत क्या है? दरअसल इन आँकड़ों के ज़रिए सिक्के के बस एक ही पहलू को दिखाया जा रहा है। लेकिन अगर इसके दूसरे पहलू को भी देखा जाये, तब हम समझेंगे कि असल मामला तो कुछ और ही है।

उदारीकरण-निजीकरण के पिछले तीस सालों में तमाम सेक्टरों (ख़ासकर मैन्युफ़ैक्चरिंग सेक्टर) में पक्के मज़दूरों (परमानेण्ट मज़दूरों) को ख़त्म कर मज़दूरों से ठेके (कॉण्ट्रैक्ट) पर काम कराया जा रहा है। ऐसे में मज़दूरों की मेहनत की लूट और भी आसान हो जाती है। इन मज़दूरों को पक्के मज़दूरों के मुक़ाबले कम तनख़्वाह देकर अधिक काम कराया जाता है। काम न होने की सूरत में उन्हें आसानी से काम से निकाला जा सकता है। पक्के मज़दूरों को कम करके ठेके पर काम करने वाले मज़दूरों की संख्या लगातार बढ़ायी गयी है। इसे हम आँकड़ों के माध्यम से और बेहतर तरीक़े से समझ सकते हैं।

उद्योगों के वार्षिक सर्वे (ASI) की एक रिपोर्ट के मुताबिक़ ऑर्गेनाइज़्ड (संगठित) मैन्युफ़ैक्चरिंग सेक्टर में ठेके पर काम करने वाले मज़दूरों की संख्या 2000-01 में 20% से बढ़कर 2016-17 में 36% तक हो गयी। यह तो केवल संगठित क्षेत्र का आँकड़ा है। उत्पादन के विकेन्द्रीकरण के बाद से इसका एक बड़ा हिस्सा असंगठित क्षेत्र में आ गया है। और असंगठित क्षेत्र में काम करने वाले अधिकतर मज़दूर ठेके पर ही काम करते हैं। यानी आज कुल उत्पादन का बड़ा हिस्सा पक्के मज़दूरों से स्थानान्तरित होकर ठेका मज़दूरों के हिस्से में आ गया है, जिन्हें कम तनख़्वाह पर खटाया जाता है और कभी भी काम पर से निकाला जा सकता है। ज़्यादातर अध्ययनों के मुताबिक़ देश में कुल मज़दूरों में क़रीब 7 प्रतिशत आबादी ही आज संगठित रह गयी है। बाक़ी 93% में ठेका, दिहाड़ी, पीस रेट आदि पर काम करने वाले मज़दूर आते हैं। इनमें एक बड़ी संख्या अप्रेण्टिस मज़दूरों की भी है।

पूँजीवाद अपनी गति से आगे बढ़ता है, और इसका आम नियम यही कहता है कि पूँजीवाद में पूँजीपति के मुनाफ़े की दर में गिरने की प्रवृत्ति होती है। पूँजीवादी राज्यसत्ता मुनाफ़े की इस गिरती दर को किसी भी तरीक़े से रोकने की कोशिश में पूँजीपतियों की मदद करती है। राज्यसत्ता ऐसा दो तरीक़े से करती है। पहला, मज़दूर जिन चीज़ों का उपभोग करता है, उनकी क़ीमतों को घटाकर! क्योंकि पूँजीपति मज़दूर को उसकी श्रम-शक्ति की क़ीमत मज़दूरी के रूप में देता है, जिससे मज़दूर अपनी श्रम शक्ति के पुनरुत्पादन के लिए ज़रूरी आम तौर पर उपभोग की जाने वाली वस्तुएँ ख़रीदता है।

दूसरा, मज़दूरों की तनख़्वाह को निरपेक्ष रूप से कम करके! परमानेण्ट से ठेका और ठेका से अब अप्रेण्टिस। आज मोदी सरकार द्वारा उठाये जाने वाले ये क़दम असल में पूँजीपतियों के मुनाफ़े की गिरती दर को रोकने की कोशिश है। यह सरकार अप्रेण्टिस के नाम पर अधिक से अधिक मज़दूरों से सस्ती दर पर काम करवाकर पूँजीपतियों को अधिक मुनाफ़ा पहुँचाने की तैयारी कर रही है। अप्रेण्टिस मज़दूरों की अधिक भर्ती का सीधा मतलब है, मज़दूरों की मेहनत की अति-लूट! यह सरकार अप्रेण्टिसशिप को अन्य सेक्टरों में भी लागू करने की योजना बना रही है, ताकि अन्य सेक्टरों में भी मुनाफ़े की गिरती दर को और गिरने से रोका जा सके, और मज़दूरों का शोषण और भयंकर रूप से किया जा सके। भारत का ऑटोमोबाइल सेक्टर इसका जीता-जागता उदाहरण है। यहाँ कम्पनियों में मज़दूरों से अप्रेण्टिस और ट्रेनी के नाम पर कम तनख़्वाहों पर काम कराया जाता है, और काम न होने पर वे निकाल दिये जाते हैं। गुड़गाँव-मानेसर-धारूहेड़ा-बावल बेल्ट में हज़ारों छोटी-बड़ी कम्पनियों में काम करने वाले लाखों मज़दूर अपने अनुभव से इसे जानते हैं। मारुति जैसी बड़ी कम्पनियों में 6-6 साल तक परमानेण्ट किये बिना अप्रेण्टिस मज़दूरों से सारा काम कराया जाता रहा है।

यह सरकार लगातार मज़दूर विरोधी नीतियों को अंजाम दे रही है। पूँजीपतियों के मुनाफ़े को सुरक्षित रखने के लिए यह हर सम्भव प्रयास कर रही है, जिसका सीधा मतलब है, मज़दूरों का अति-शोषण! इसलिए आज इसके ख़िलाफ़ हम मज़दूरों को एकजुट होने की ज़रूरत है, वरना ये मुनाफ़ाख़ोर हमारे ख़ून का आख़िरी क़तरा तक निचोड़ लेंगे।

आवश्यक रक्षा सेवा अध्यादेश, 2021 के ज़रिए मज़दूरों के अधिकारों पर फ़ासीवादी सत्ता का एक और हमला!

मज़दूरों के हक़ों की क़ीमत पर पूँजीपति वर्ग के मुनाफ़े की हिफ़ाज़त में जुटी मोदी सरकार!

– बिगुल संवाददाता

बीते 30 जून को फ़ासीवादी मोदी सरकार द्वारा आवश्यक रक्षा सेवा अध्यादेश, 2021 लाया गया। ज्ञात हो कि यह अध्यादेश केन्द्र सरकार को आवश्यक रक्षा सेवाओं में लगे फ़ैक्टरी मज़दूरों के हड़ताल पर रोक लगाने समेत अनेक अधिकारों को निरस्त करने की अनुमति देता है।

इस अध्यादेश के मुताबिक़ सरकार किसी भी सेवा या प्रतिष्ठान को आवश्यक रक्षा सेवा के रूप में घोषित कर सकती है, यदि ऐसी सेवाओं या प्रतिष्ठानों में कामबन्दी या हड़ताल से :

(i) रक्षा उपकरणों या सामान का उत्पादन प्रभावित होता है,

(ii) औद्योगिक प्रतिष्ठानों या इकाइयों का संचालन प्रभावित होता है, या

(iii) रक्षा से जुड़े उत्पादों की मरम्मत या रखरखाव के काम में रुकावट आती है।

मोदी सरकार के मुताबिक़ जिन फ़ैक्टरियों में आवश्यक रक्षा सेवाओं के रखरखाव के लिए काम होता है, वहाँ मज़दूरों द्वारा काम बन्द करने पर, सामूहिक आकस्मिक अवकाश लेने पर, ओवरटाइम करने से मना करने पर या कोई अन्य आचरण जिसके परिणामस्वरूप आवश्यक रक्षा सेवाओं के काम में बाधा उत्पन्न होती है, उन्हें दण्डित किया जायेगा। ध्यान रखने की बात है कि रक्षा उत्पादन का एक अच्छा-ख़ासा हिस्सा अब निजी क्षेत्र की कम्पनियों को सौंपा जा चुका है और वे भी अपने कारख़ानों में मज़दूरों द्वारा हक़ माँगने के लिए आन्दोलन करने पर इस क़ानून का उपयोग कर सकते हैं।

अपने हक़ों के लिए हड़ताल करने पर मज़दूरों को एक साल तक की क़ैद या 10,000 रुपये ज़ुर्माना या दोनों से दण्डित करने की व्यवस्था इस अध्यादेश में की गयी है। अध्यादेश के तहत दण्डनीय सभी अपराध ग़ैर-ज़मानती होंगे।

फ़ासीवादी मोदी सरकार के सत्तासीन होने के बाद से ही मज़दूरों-मेहनतकशों के रहे-सहे अधिकारों पर हमले शुरू हो गये थे और अब इस महामारी से पैदा हुई आपदा के दौर में पूँजीपति वर्ग के मुनाफ़े की पहले से ही गिरती दर से गहराये आर्थिक संकट को दूर करने की कोशिश में ये हमले और तेज़ कर दिये गये हैं।

उल्लेखनीय है कि ऑर्डिनेन्स फ़ैक्टरी के मज़दूर, स्टील फ़ैक्टरी के मज़दूर, रेल कर्मचारी व अन्य सेक्टरों में काम कर रहे मज़दूर-कर्मचारी लगातार सरकार की नीतियों के ख़िलाफ़, निजीकरण के ख़िलाफ़ प्रदर्शन और हड़तालें कर रहे हैं जिसको रोकने के लिए भी आनन-फ़ानन में मोदी सरकार ये नया अध्यादेश लेकर आयी है। विशाखापत्तनम स्टील प्लाण्ट को निजी हाथों में सौंपने के केन्द्र सरकार के निर्णय के ख़िलाफ़ वहाँ के मज़दूर-कर्मचारी पिछले क़रीब 5 महीनों से क्रमिक भूख हड़ताल पर बैठे हैं मगर फ़ैक्टरी प्रबन्धन और सरकार को उनकी माँगों से कोई लेना-देना नहीं है।

मालूम हो कि बीते 23 जून को रक्षा मंत्री राजनाथ सिंह को लिखे एक पत्र में ऑर्डिनेन्स फ़ैक्टरी के मज़दूरों की यूनियन ने निजीकरण को बढ़ावा देने वाली सरकारी नीतियों के ख़िलाफ़ 26 जुलाई से अनिश्चितकालीन हड़ताल पर जाने की बात कही थी। देशभर में सुलग रहे मज़दूरों के ग़ुस्से को फूटने से रोकने के लिए ये दमनकारी क़ानून बिना संसद सत्र का इन्तज़ार किये मोदी सरकार लाने जा रही है। हालाँकि मज़दूरों से जुड़े मसलों में सभी बुर्जुआ पार्टियाँ एकमत ही होती हैं।

मेहनतकश जनता की गाढ़ी कमाई से खड़ी की गयी सार्वजनिक क्षेत्र की कम्पनियों को बेचने का काम मोदी सरकार दिन दोगुनी-रात चौगुनी रफ़्तार से कर रही है। रेलवे, बीएसएनएल, ओएनजीसी, एयर इण्डिया और एचएएल जैसे सार्वजनिक उपक्रमों का इस सरकार ने जो हश्र किया, उससे यह साफ़ है कि पहले इन कम्पनियों की हालत को बदतर किया जाता है, उन्हें घाटे में दिखाया जाता है और फिर उनकी "बेहतरी" के नाम पर उन्हें औने-पौने दामों पर निजी हाथों में सौंप दिया जाता है। इसके बाद पूँजीपतियों के मुनाफ़े की सुरक्षा के लिए क़ानून से लेकर पुलिस-फ़ौज तक लगा दी जाती है। निजीकरण न सिर्फ़ छँटनी-तालाबन्दी को बढ़ावा देता है बल्कि मज़दूरों के शोषण को भी बेइन्तहा बढ़ाता है।

पूँजीपतियों के मुनाफ़े को बरक़रार रखने के लिए मज़दूरों के ख़ून की आख़िरी बूँद को भी सिक्के में ढालने की तैयारी में एक के बाद एक ऐसे क़ानून बनाये जा रहे हैं, जिसमें न सिर्फ़ केन्द्र की मोदी सरकार ने मुस्तैदी दिखायी है, बल्कि सभी राज्य सरकारों ने भी पूँजीपति वर्ग के प्रति बार-बार अपनी वफ़ादारी ही प्रदर्शित की है। पहले चार लेबर कोड और अब आवश्यक रक्षा सेवा अध्यादेश इसका हालिया उदाहरण है। रक्षा सेवाओं के नाम पर मोदी सरकार की इस रणनीति का असल मक़सद आर्थिक संकट से कराह रहे पूँजीपति वर्ग के मुनाफ़े को बनाये रखना है।

इस अध्यादेश के बिन्दुओं को देखने से यह साफ़ पता चलता है कि ये नियम सिर्फ़ रक्षा सेवा के क्षेत्र में लगे मज़दूरों पर नहीं बल्कि व्यापक मज़दूर आबादी पर लागू होंगे और उनके आन्दोलन करने के अधिकार तथा अन्य जनवादी अधिकारों को एक साथ ख़त्म कर देंगे। साथ ही, यह राज्यसत्ता की दमनकारी मशीनरी को भी चाक-चौबन्द करेंगे। या यूँ कहें कि यह क़ानून पूँजीपति वर्ग को मज़दूरों-मेहनतकशों को बिना किसी क़ानूनी रुकावट के लूटने की पूरी आज़ादी देगा और दूसरी तरफ़ मज़दूरों से उनके संगठित होकर प्रतिरोध करने के अधिकार तक को छीन लेगा!

आज मज़दूर आन्दोलन के बिखराव का फ़ायदा उठाकर सरकारें उनके अधिकारों पर हमला बोल रही हैं। मज़दूर अगर एकजुट नहीं हुए तो ये हमें पूरी तरह पीस डालेंगे।

अनियोजित लॉकडाउन में बदहाल होते मुम्बई के मेहनतकशों के हालात

– अविनाश

मानखुर्द, मुम्बई के सबसे बाहरी छोर पर आता है और सबसे ग़रीब इलाक़ों में से एक है। यहाँ मज़दूरों, मेहनतकशों और निम्न मध्यम वर्ग के रिहायशी इलाक़े आपस में गुँथे-बुने ढंग से मौजूद हैं। मुम्बई की इन्हीं बस्तियों में रहने वाली मज़दूर-मेहनतकश आबादी, पूरे मुम्बई के तमाम इलाक़ों को चलाने और चमकाने का काम करती है। वहीं यह आबादी ख़ुद मुम्बई के सबसे बड़े झोपड़पट्टियों वाले ऐसे इलाक़े में रहने को मजबूर है जिसकी एक तरफ़ तो डम्पिंग ज़ोन है, तो दूसरी तरफ़ धुआँ उगलता हुआ बायोवेस्ट ट्रीटमेण्ट प्लाण्ट मौजूद है। इन्ही कारणों से यहाँ ह्यूमन डेवेलपमेण्ट इण्डेक्स पूरी मुम्बई में सबसे कम है। दमा, कैंसर और टीबी के मरीज़ यहाँ पर आम तौर पर पाये जाते हैं। मुम्बई महानगरी की चकाचौंध भरी दुनिया जिसको बॉलीवुड की फ़िल्मों में अक्सर दिखाया जाता है उनमें से ग़ायब ये इलाक़े अख़बारों और न्यूज़ चैनलों में भी भूले-भटके भले ही कभी हैडलाइन के तौर पर आ जायें, मगर अक्सर ही ये इलाक़े इन सबसे अछूते ही रहते हैं। मुम्बई की ही एक बड़ी आबादी को नहीं पता होता कि मुम्बई में ऐसा भी कोई इलाक़ा मौजूद है। ऐसे में नेता-मंत्रियों के विकास के दावे तो अक्सर यहाँ दम तोड़ते ही नज़र आते हैं। ऊपर से कोरोना महामारी व अनियोजित लॉकडाउन ने मज़दूर-मेहनतकशों के हालात और ख़राब कर दिये हैं।

मानखुर्द में मज़दूरों-मेहनतकशों के काम का चरित्र

मानखुर्द की बस्तियों में रहने वाले मज़दूर-मेहनतकशों के काम के बारे में बात की जाये तो एक तरफ़ रफ़ीक़ नगर, लोटस, गौतम नगर, टाटा नगर, लल्लूभाई कम्पाउण्ड, साठे नगर, बैंगनवाड़ी, मण्डाला आदि में छोटे-छोटे वर्कशॉप मौजूद हैं। जैसे ज़ाकिर हुसैन झोपड़पट्टी की तंग गलियों में पैर पोंछ, झाड़ू, बच्चों के खिलौने और अन्य सामान बनाने के वर्कशॉप मौजूद हैं। वहीं रफ़ीक़ नगर और शिवाजी नगर में ज़री के वर्कशॉप मौजूद हैं। ज़री के वर्कशॉप में काम करने वाले मज़दूर ज़्यादातर बिहार और उत्तर प्रदेश के रहने वाले हैं। रफ़ीक़ नगर में एक मज़दूर जो ज़री के वर्कशॉप में काम करते थे, वो बताते हैं, "पहले इस काम में बहुत बरकत थी। हमारा माल सऊदी और दुबई जाया करता था। मगर मोदी सरकार द्वारा नोटबन्दी और जी.एस.टी लगने के बाद से धन्धा पूरी तरह से चौपट हो गया है।" अब इन्होंने पुराना धन्धा छोड़ दिया है और दिहाड़ी पर मज़दूरी करते हैं। ऐसे ही हालात ज़री के बहुत सारे मज़दूरों के हैं। अभी भी चोरी-छिपे वर्कशॉप चल रहे हैं, मगर मज़दूरी पुरानी जैसी नहीं है।

वहीं दूसरी तरफ़ मानखुर्द में रहने वाली एक बड़ी आबादी सर्विस सेक्टर में भी काम करती है। मानखुर्द से महिला व पुरुष दोनों ही की एक बड़ी आबादी बेहद कम वेतन पर तमाम ऑफ़िसों में सफ़ाई कर्मचारी, वॉचमैन या ऑफ़िस बॉय का काम करती है। वे बड़े-बड़े मॉलों और दुकानों में सेल्समैन ,लिफ़्टमैन या किसी तकनीकी काम में भी लग जाते हैं। तो कहीं ब्यूटी पार्लर चलाते हुए, या डोमिनोस, मैकडॉनल्ड्स, सब वे, पिज़्ज़ा हट में खाना पकाते हुए या फिर स्विग्गी, ज़ोमाटो में डिलीवरी का काम करते हुए वे मौजूद रहते हैं। टोल प्लाज़ा पर काम करते हुए, पेट्रोल पम्प पर पेट्रोल भरते हुए, बैंक के लिए डॉक्यूमेण्ट इकट्ठा करते हुए। तो कभी ओप्पो, वीवो, वनप्लस आदि मोबाइल कम्पनियों के फ़ोन का प्रचार करते हुए भी वे दिखाई पड़ते हैं। अब यह कहने की ज़रूरत तो है नहीं कि ये सब ठेकेदारी प्रथा के तहत ही काम करते हैं। यह कहा जाता है कि मुम्बई कभी सोती नहीं है, पर यह सवाल कोई नहीं पूछता कि इस न सोने वाले शहर मुम्बई को 24 घण्टे कौन चलाता है?

मानखुर्द की बस्तियों में एक आबादी ऐसी भी है जो स्वरोज़गार के तहत सब्ज़ी, फल, वडापाव का ठेला लगाती है। वहीं एक छोटी सी आबादी ऑटोरिक्शा, टैक्सी, ओला, उबेर और छोटा हाथी चलाकर काम चलाती है।

मानखुर्द में महिलाओं की एक बड़ी आबादी नवी मुम्बई, अँधेरी, कोलाबा, सान्ता क्रूज़ और अन्य रईस इलाक़ों में घरेलू कामगार की नौकरी करती है। इसके अलावा सफ़ाई कर्मचारी की भी एक बड़ी आबादी यहाँ रहती है जो बी.एम.सी, अस्पतालों और अन्य जगह काम करती है। मानखुर्द के लल्लूभाई कम्पाउण्ड, साठे नगर, मण्डाला, गौतम नगर जैसे इलाक़ों में महिलाएँ घर पर पीस रेट पर फ़्रॉक सीने, बटन टाँकने, मोबाइल पॉउच बनाने का काम भी करती हैं। वहीं इन्हीं बस्तियों में एक आबादी ऐसी भी है जो सुबह 3 बजे उठ कर प्लास्टिक व शीशे की बोतल चुनने के लिए कूड़े के ढेर में निकल जाती है। साठे नगर में एक महिला जो प्लास्टिक बोतल चुनने का काम करती है, उसने बताया कि जी.एस.टी लगने से पहले प्लास्टिक बोतल पर एक किलो में ठीक ठाक पैसा मिल जाता था। मगर अब ज़्यादा मेहनत करने पर भी उतना पैसा नहीं मिलता है। पहले इस धन्धे में ज़्यादा लोग नहीं थे, मगर बढ़ती बेरोज़गारी ने आस-पास के महिलाओं व पुरुषों को भी यह काम करने के लिए मजबूर कर दिया है। पूँजीवादी व्यवस्था के तहत मज़दूर-मेहनतकश की आबादी संगठित व असंगठित सेक्टर के तौर पर उत्पादन में लगने के बाद इन उत्पादों से पैदा हुए कूड़े को भी संगठित व असंगठित तौर पर छाँट-बीन कर बेहद सस्ते श्रम में वापस पूँजीवादी प्रणाली के चक्के में शामिल कर देती है।

कोरोना महामारी में अनियोजित लॉकडाउन का असर

मोदी सरकार द्वारा कोरोना महामारी की वजह से थोपे गये अनियोजित लॉकडाउन ने मानखुर्द में रहने वाली मेहनतकश आबादी के हालातों को बद से बदतर कर दिया। जिनके पास नौकरी थी अब वह पूरी तरह छूट गयी है। एक झटके के साथ सारे धन्धे चौपट हो गये। कारख़ाने, ऑफ़िस, दुकान, मॉल, ठेलागाड़ी, रिक्शा आदि सब एकसाथ बन्द हो गये। घर चलाने के लिए पुरानी बचत पूरी तरह ख़त्म हो गयी। पिछले साल कारख़ानों के मज़दूरों ने पहले कुछ दिन लॉकडाउन ख़त्म होने का इन्तज़ार किया, फिर काम न होने की वजह से 5-6 हज़ार रुपये ख़र्च करके ट्रकों में ठुँसकर चोरी-छिपे अपने गाँव जाने को मजबूर हो गये थे। दुकान, मॉल और ऑफ़िस बन्द होने की वजह से कई लोगों को काम से निकाल दिया गया। इस साल अभी तक ये लोग दूसरे काम की तलाश में दर-दर की ठोकरें खा रहे हैं। लोकल ट्रेन बन्द होने की वजह से किसी अन्य इलाक़ों में काम की तलाश में भी नहीं जा सकते। हाल ही में आयी हिन्दुस्तान टाइम्स की एक रिपोर्ट इन्हीं हालात को साबित भी करती है। इसके अनुसार मानखुर्द (M EAST वार्ड) में लोगों की औसत आमदनी कोरोना लॉकडाउन की वजह से 47% से ज़्यादा घट गयी है। रिपोर्ट बताती है कि शिवाजी नगर, गोवण्डी, देवनार, ट्रॉम्बे और चीता कैंप में शुरुआती सर्वेक्षण से पता चला है कि बेरोज़गारी 7% से 12% तक बढ़ गयी है, जिसमें स्वरोज़गार और रोज़ कमाने वाले सबसे ज़्यादा प्रभावित हुए हैं।

पिछले साल भारत की क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी ने क्रान्तिकारी सुधार कार्य के तहत साढ़े 3 महीने कम्युनिटी किचन और फ़ूड पैकेट्स बाँटने का काम किया था। इस साल भी इस मज़दूर पार्टी ने गौतम नगर, साठे नगर, टाटा नगर और लल्लूभाई कम्पाउण्ड में बुज़ुर्गों व स्वतंत्र महिलाओं और जिनके पास राशन कार्ड नहीं थे, उनके बीच राशन किट्स वितरण का कार्य किया। मगर राशन किट्स वितरण आबादी की ज़रूरत के हिसाब से बिल्कुल नाकाफ़ी साबित हुआ, जो ज़ाहिर सी बात है क्योंकि इतनी बड़ी आबादी को राशन देने का काम सरकार की प्रणाली ही कर सकती है। जिसमें केन्द्र की मोदी सरकार हो या महा विकास अघाड़ी की उद्धव सरकार दोनों ही विफल साबित हुई हैं। आम जनता को भूख और कोरोना बीमारी के बीच ऐसे ही मरने के लिए छोड़ दिया गया है। ऐसे में आम जनता के बीच भारत की क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी ने राजनीतिक अभियान चलाते हुए यह बात भी रखी कि अगर यही हालात बने रहे तो सड़कों पर उतरकर हमें अपने हक़ों-आधिकारों के लिए संघर्ष करना होगा।

धनी किसान आन्दोलन में लग रहे 'मज़दूर-किसान एकता' के नारों के बीच भी जारी है खेत मज़दूरों का शोषण-उत्पीड़न!

– बिगुल संवाददाता

दिल्ली की सीमाओं पर जारी धनी किसान आन्दोलन को चलते हुए सात महीने का समय बीत चुका है। इन सात महीनों के दौरान धनी किसान आन्दोलन का वर्ग चरित्र अधिकाधिक बेपर्द होता गया है। हमारा यह शुरू से ही कहना रहा है कि मौजूदा किसान आन्दोलन धनी किसानों और कुलकों का आन्दोलन है। यह हम इस आन्दोलन के वर्ग चरित्र के कारण कहते रहे हैं। किसान आन्दोलन में बेशक ग़रीब किसानों की भी अच्छी-ख़ासी तादाद में भागीदारी रही है लेकिन किसी भी आन्दोलन के वर्ग चरित्र को जो चीज़ निर्धारित करती है वह चीज़ होती है आन्दोलन के माँग पत्रक में प्रस्तुत माँगों का और उसके नेतृत्व का वर्ग चरित्र। धनी किसान आन्दोलन का नेतृत्व पूरी तरह से धनी किसानों और कुलकों की आर्थिक माँगों का प्रतिनिधित्व करने का काम कर रहा है। एमएसपी की गारण्टी की माँग धनी किसानों के पाले में ही जाती है। छोटे और सीमान्त किसान मुख्य तौर पर विक्रेता की बजाय क्रेता में तब्दील हो चुके हैं। वे यदि अपनी उपज का कुछ हिस्सा मण्डी या बाज़ार में बेच भी पाते हैं तो भी उन्हें अन्य कृषि मालों और उपभोक्ता सामग्रियों को बाज़ार से ख़रीदना ही पड़ता है। अकेली खेती के दम पर उनका गुज़ारा चल ही नहीं सकता। अतः खाद्य वस्तुओं में महँगाई में इज़ाफ़ा करने वाली एमएसपी की प्रणाली धनी किसानों को तो लाभ पहुँचाती है लेकिन बहुसंख्यक ग़रीब किसान आबादी की जेबों पर अतिरिक्त भार ही डालती है। दूसरी ओर लाभकारी मूल्य यानी एमएसपी की गारण्टी करोड़ों औद्योगिक मज़दूरों, भवन निर्माण मज़दूरों, खेतिहर मज़दूरों, 'फ़ुटलूज़ लेबर' और तमाम अन्य ग़रीबों पर महँगाई की मार बढ़ने की ही गारण्टी है।

किसान आन्दोलन के सात महीने गुज़र जाने के बाद भी कृषि क्षेत्र के अधिशेष विनियोजन के लिए ग्रामीण बुर्जुआ और कॉर्पोरेट बुर्जुआ के रूप में शासक वर्ग के ही दो धडों के बीच रस्साकस्सी फ़िलहाल जारी है। संयुक्त किसान मोर्चा के तौर पर धनी किसानों-कुलकों अथवा ग्रामीण पूँजीपति वर्ग के प्रतिनिधियों और भाजपा सरकार के तौर पर कॉर्पोरेट पूँजी के प्रतिनिधियों की वार्ता अभी सिरे चढ़ती नहीं दिख रही है।

दूसरी बात, अभी पंजाब और उत्तरप्रदेश के चुनाव भी पास ही हैं। किसान आन्दोलन दोनों ही राज्यों के चुनाव परिणामों पर ख़ासा असर डाल सकता है। इसको परदे के पीछे से हर तरह से सक्रिय मदद पहुँचा रही विपक्षी चुनावी पार्टियों की यह मजबूरी भी बन गयी है कि किसान आन्दोलन को चुनावों तक तो कम से कम खींचा ही जाये। और इस बात को कौन नहीं जनता कि बलबीर सिंह राजेवाल से लेकर राकेश टिकैत तक और गुरनाम सिंह चढ़ूनी से लेकर योगेन्द्र यादव तक धनी किसान आन्दोलन के नेतृत्व की राजनीतिक चुनावी महत्वकांक्षाएँ भी हैं। राजेवाल इस बार के पंजाब विधानसभा चुनाव में ख़ुद को एक बड़े चेहरे के तौर पर देख रहे हैं। कुछ हलक़ों में तो उनके मुख्यमंत्री पद के दावेदार होने तक की सुगबुगाहटें हैं। उत्तरप्रदेश के टिकैत बन्धु पहले भी चुनावी राजनीति में हाथ आज़मा चुके हैं। मुज़फ़्फ़रनगर दंगों और अल्पसंख्यकों पर सुनियोजित हमले के समय टिकैत बन्धुओं की राजनीति ने सीधे तौर पर भाजपा को ही फ़ायदा पहुँचाया था। इस बार ये उत्तरप्रदेश चुनावों को अपनी महत्वकांक्षाओं के लिए भुनाने के अवसर के तौर पर देख रहे हैं। रालोद के अजीत सिंह की मृत्यु के बाद इन्हें पूर्वी उत्तरप्रदेश में ख़ासी चुनावी सम्भावनाएँ भी नज़र आ ही रही होंगी। अतः उत्तरप्रदेश और पंजाब का विधानसभा चुनाव भी धनी किसान आन्दोलन को लम्बा खींचने का निश्चय ही एक कारण है।

धनी किसान आन्दोलन में लग रहे 'मज़दूर-किसान एकता' के नारे की असलियत!

हाल ही में कई घटनाएँ घटीं जिन्होंने धनी किसान नेतृत्व की असलियत को एक बार फिर से बेपर्द कर दिया। हालिया मामला पंजाब के मानसा ज़िले के मट्टी गाँव का था। यहाँ पर विगत 15 जून को सरपंच निवास पर खेत मालिकों और खेत मज़दूरों के बीच एक बैठक चल रही थी। मुद्दा खेत मज़दूरों की मज़दूरी को लेकर था। यहाँ गाँव के धनी किसानों की तथाकथित पंचायत के द्वारा प्रति एकड़ धान रोपाई की मज़दूरी को पिछले साल से भी कम कर दिया गया है। पंचायत ने मज़दूरी तय की थी 3,500 रुपये, लेकिन मज़दूरों को 2500-2600 रुपये देकर ही टरकाया जा रहा था। इसके विरोध में दलित खेत मज़दूरों ने धान लगाने का काम बन्द कर दिया था। इसी बारे में गाँव की सरपंच सुखविन्दर कौर के निवास पर खेत मालिकों और खेत मज़दूरों के बीच बैठक चल रही थी। बैठक में मज़दूर कम मज़दूरी को मुद्दा बना रहे थे। इसी दौरान गोरा सिंह नामक खेत मालिक ने एक खेत मज़दूर महिला के साथ हाथापाई की और उसे थप्पड़ मार दिया। इसके बाद दलित खेत मज़दूर भड़क गये। इस मामले में दोषी खेत मालिक के ख़िलाफ़ एफ़आईआर दर्ज कर ली गयी है। लेकिन खेत मज़दूर गाँव की सरपंच पर भी क़ानूनी कार्रवाई चाहते हैं जिसके निवास पर मारपीट की घटना को अंजाम दिया गया और जिसने इसे रोकने का कोई प्रभावी प्रयास नहीं किया था।

पंजाब में धनी किसानों-कुलकों

(पेज 2 पर जारी)

अचानक कश्मीर को लेकर मोदी सरकार की बैठक

एक बार फिर कश्मीरी क़ौम निर्णय में भागीदारी से वंचित

– लता

गुपकर गठबन्धन (पीपल्स अलायन्स फ़ॉर गुपकर डिक्लरेशन) में शामिल कश्मीर की मुख्यधारा की पार्टियों को मोदी सरकार ने वार्ता के लिए 24 जून को दिल्ली आमंत्रित किया था। किसी भी आधिकारिक प्रक्रिया का पालन नहीं करने की मोदी सरकार की जैसी संस्कृति है, जैसे मनमाने तरीक़े से बिना प्रोटोकॉल का पालन किये पाकिस्तान बिरियानी खाने चले जाना, बिना आमंत्रण किसी भी देश पहुँच जाना, उसी तरह बिना एजेण्डा निर्धारित किये बैठक के लिए पार्टियों को आमंत्रित कर दिया गया। 5 अगस्त 2019 को अनुच्छेद 370 और 35ए हटाने जाने और जम्मू-कश्मीर का विशेष राज्य का दर्जा समाप्त करने के बाद भारत सरकार की ओर से बातचीत का यह पहला प्रयास है।

आपको याद होगा कि 5 अगस्त 2019 को अनुच्छेद 370 और 35ए हटाये जाने के बाद मुख्यधारा का मीडिया और सोशल मीडिया पर मनोरोगी क़िस्म के विकृत मानसिकता वाले भाजपा और आरएसएस के कार्यकर्ता अर्धपागलों की तरह कश्मीर में प्लॉट ख़रीदने का जश्न मना रहे थे और कश्मीर की औरतों के बारे में अपनी कुत्सित मानसिकता का कुरूप प्रदर्शन कर रहे थे क्योंकि मोदी मीडिया ने इसे कुछ इस प्रकार ही प्रस्तुत किया था। लेकिन इस निर्णय से मोदी सरकार को जितनी उम्मीदें थीं उनमें से कुछ भी कारगर होती नज़र नहीं आ रहीं। उल्टे उनके झूठे वायदों की पोल एक-एक कर खुलती जा रही है। कश्मीर में अनुच्छेद 370 हटाये जाने के बाद भारत सरकार न आतंकवाद कम होने का दावा कर सकती है और न ही उसे भारत के किसी भी अन्य राज्य की तरह सुगम पहुँच वाला बता सकती है। इसके विपरीत यहाँ सेना की उपस्थिति पहले से कहीं अधिक बढ़ी है, घाटी में तनाव और अस्थिरता बनी हुई है। मोदी के विकास के वायदों के ढोल के चीथड़े सभी जगह मौजूद हैं। कश्मीर के लोगों को तो इससे वैसे भी कोई उम्मीद नहीं थी। फिर भी मोदी ने कहा तो था कि नौजवानों को रोज़गार मिलेगा और घाटी में विकास होगा। ख़ैर इन सभी बातों की सच्चाई वहाँ हर दिन सेना की बढ़ती उपस्थिति बयान करती है और यह कि कश्मीर का सवाल जहाँ था आज भी उसी तरह बिना किसी समाधान के बना हुआ है।

भारतीय राज्य और राजनीति के चरित्र को देखते हुए यह लगभग तय है कि अब कोई अन्य पार्टी भी सत्ता में आने पर अनुच्छेद 370 को बहाल नहीं करेगी। राजनीतिक तौर पर, यह कश्मीर के क़ौमी दमन में एक नया अध्याय ही नहीं है, बल्कि मुख्य भूमि भारत में भाजपा ने इसका पर्याप्त फ़ायदा उठाया है और उठाती रहेगी। नेशनल कॉन्फ्रेंस तक का यह कहना कि 370 को बहाल करने की माँग अब यथार्थवादी नहीं है, यह दिखला देता है, कि माँगों का नया क्षितिज ही कश्मीर का विशेष दर्जा माँगना नहीं बल्कि राज्य का दर्जा माँगना हो गया है या हो जायेगा।

मोदी सरकार के इस क़दम की वजह से कश्मीर में भारत सरकार के प्रति अलगाव और अधिक बढ़ा है और पीडीपी, नेशनल कॉन्फ्रेंस समेत मुख्य धारा की राजनीतिक पार्टियों के नेताओं की नज़रबन्दी और गिरफ़्तारियों ने इस अलगाव को कहीं गहरा बनाया है। कुछ लोगों का मानना है कि इसमें अन्तरराष्ट्रीय दबाव की भी एक भूमिका है, लेकिन मूल कारक आन्तरिक हैं न कि बाहरी, जो है कश्मीरी जनता के उबलते ग़ुस्से को विनियमित करने का प्रयास और साथ ही वहाँ के राजनीतिक नेतृत्व को पूरी तरह पालतू बना लेने का लक्ष्य। अचानक बुलायी गयी मीटिंग के पीछे यही कारण थे।

दिल्ली में 24 जून को हुई बैठक में कश्मीर में चुनाव कराये जाने पर चर्चा हुई। इस वार्ता के आरम्भ होने के पीछे कई राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय समीकरण आपस में गुथे-बुने हैं। अफ़ग़ानिस्तान में अमेरिकी सेना के हटने के बाद तालिबान की वापसी तय लग रही है। मुनाफ़े की गिरती दर के संकट को पिछले दो सालों में कोविड महामारी ने और गहरा बनाया है। इस स्थिति में विश्व पूँजीवादी तंत्र के महारथी अर्थव्यवस्था को कुछ नियंत्रण में लाने के प्रयास में किसी भी प्रकार की उथल-पुथल, टकराव या सैन्य परिस्थितियों के पैदा होने से बचना चाहते हैं। भारत से बेहद क़रीब होने की वजह से अफ़ग़ानिस्तान के राजनीतिक मौसम का प्रभाव भारत पर भी पड़ेगा। लश्कर-ए-तयबा और जैश-ए-मोहम्मद जैसे आतंकवादी संगठनों का सम्बन्ध तालिबान के साथ है। इनके आतंकवादियों के शिक्षण-प्रशिक्षण, हथियार प्रदान करने व फ़ण्डिंग में तालिबान का भी योगदान रहता है। ऐसे में तालिबान के सत्ता में आने की सम्भावनाओं को देखते हुए भारत सरकार पर भी दबाव है। मौजूदा भू-राजनीतिक परिस्थितियों में चीन भी किसी क़िस्म के टकराव से बचना चाहता है और सीमा सम्बन्धी किसी भी मुद्दे को तूल नहीं देना चाहता। कुल-मिलाकर भारत सरकार पर दबाव है कि वह कश्मीर की परिस्थितियों में आये तनाव को कम करे। विश्व साम्राज्यवाद का भी दबाव है साथ ही आन्तरिक परिस्थितियाँ भी कश्मीर में तनाव-शैथिल्य के लिए दबाव बना रही हैं। इसी परिदृश्य में हम तालिबान के साथ भारत की गुप्त वार्ता को भी देख सकते हैं। कहा जा रहा है कि अमेरिका के राष्ट्रपति जो बाइडेन ने भारत पर तालिबान से वार्ता के लिए दबाव बनाया है। यह बात एक हद तक सही है लेकिन तालिबान से वार्ता सिर्फ़ साम्राज्यवाद के हित में नहीं है बल्कि स्वयं भारत का भी हित इसमें निहित है। भारत सरकार की गुपकर गठबन्धन से हुई वार्ता को भी यदि हम इस परिप्रेक्ष्य में रख कर देखते हैं तो चीज़ें बेहतर स्पष्ट होंगी।

अनुच्छेद 370 और 35ए को कश्मीर से हटाये जाने के बाद भारत सरकार ने जिस क़दर कश्मीर में प्रतिरोध का दमन किया, फ़ोन और इण्टरनेट सुविधाएँ काटकर पहले से बदहाल आम जीवन को और भी तबाह किया, उससे कश्मीर में भारत सरकार के प्रति आक्रोश, अविश्वास और ग़ुस्सा बढ़ा है। ऐसे अस्थिरता और अलगाव के माहौल में यदि पूँजी निवेश होता भी है तो सफलता नहीं हासिल होगी। पूँजी निवेश के लिए क़ानून व्यवस्था का होना न्यूनतम आवश्यकता होती है और यह सेना की उपस्थिति में सम्भव नहीं है। कश्मीर के साथ संवाद स्थापित करना मोदी सरकार की ज़रूरत है। लेकिन यह संवाद जिनके माध्यम से हो रहा है वह पहले ही जनता में अपनी साख खो चुके हैं। भारत सरकार के साथ समझौता कर चुकी मुख्य धारा की पार्टियों के नेताओं की पकड़ अपनी जनता में कितनी है यह इस बात से साबित हो जाता है कि अनुच्छेद 370 और 35ए के हटाये जाने के बाद इन नेताओं को नज़रबन्द किया गया। नज़रबन्द किये जाने पर लोगों में असन्तोष तो था लेकिन इनके समर्थन में कहीं भी जनता सड़कों पर नहीं उतरी।

असलियत यह है कि इस तथाकथित गुपकर गैंग का अब कश्मीर में कोई जनाधार नहीं बचा है। मुफ़्ती और अब्दुल्ला ख़ानदान जो कई दशकों से कश्मीरी जनता की आकांक्षाओं के साथ ग़द्दारी करते हुए, कश्मीरी जनता को सेना द्वारा दी गयी तमाम यातनाओं पर चुप्पी साधे हुए, नई दिल्ली से फेंकी गयी दलाली की रोटियाँ खाते रहे हैं, उसके कारण कश्मीर के जनमानस में भारतीय बुर्जुआ राज्य से जनवाद मिलने की सभी उम्मीदें मर चुकी हैं। कश्मीर में तथाकथित लोकतंत्र का हाल यह है कि पिछले कुछ सालों में वहाँ स्थानीय निकाय से लेकर विधानसभा और लोकसभा तक के जो भी चुनाव हुए, उनमें घाटी के अधिकांश इलाक़ों में मतदान बीस प्रतिशत से भी कम रहा है। राजधानी श्रीनगर में हुए आख़िरी निकाय चुनाव में मतदान 11% रहा, श्रीनगर में लोकसभा चुनाव में 14% वोट पड़े। कश्मीर की जनता के आत्मनिर्णय के अधिकार से नेहरू द्वारा की गयी वादाख़िलाफ़ी को स्थायी नीति बनाकर केन्द्र में हर पार्टी की सरकार ने यह ख़ुशफ़हमी पाल ली कि एक राष्ट्रीयता के बेहद बुनियादी जनवादी अधिकार को महज़ बन्दूक़ के बल पर हमेशा के लिए दबाने में सफल हो जायेंगे। पर न ऐसा हो सकता था, न हुआ। धारा 370 ख़त्म करने के बाद मोदी-शाह और संघ भी यही ख़ुशफ़हमी पाले हुए थे।

पीडीपी की महबूबा मुफ़्ती का कहना है कि इस वार्तालाप में पाकिस्तान को भी पार्टी बनाना आवश्यक है क्योंकि कश्मीर में उसकी भी उपस्थिति है जिसे नकारा नहीं जा सकता। जिस तरह इन पार्टियों को कश्मीरी जनता भारत के एजेण्ट की तरह देखती है, उसी प्रकार पाकिस्तान अधिकृत कश्मीर में भी हुर्रियत को वहाँ की जनता पाकिस्तान सरकार के एजेण्ट की तरह देखती है। न तो पीडीपी, नेशनल कॉन्फ्रेंस सरीखी पार्टियाँ और न ही हुर्रियत कश्मीर के अवाम का प्रतिनिधित्व करती हैं। यदि वार्ताओं से किसी तरह की शान्ति की उम्मीद की जा रही है तो यह बिना न्याय के सम्भव नहीं है। और न्याय कहता है कि यदि किसी को पार्टी बनाया जाना है तो वह है कश्मीर की आम जनता। यदि वाक़ई कोई निरपेक्ष अन्तरराष्ट्रीय संस्था होती तो उसके निर्देश में जनमत संग्रह कराया जाता, क़ौम को आत्मनिर्णय का अधिकार दिया जाता और बिना शर्त उस निर्णय को अपनाया जाता। जनमत संग्रह किये बिना इस बात का पूर्वाग्रह पैदा करना कि अगर ऐसा होगा तो कश्मीर पाकिस्तान में मिल जायेगा, यह बेहद ग़लत अप्रोच है। 1947 में कश्मीर की जनता ने पाकिस्तान में शामिल नहीं होने का निर्णय लिया था और भारत को धर्मनिरपेक्ष राज्य बनाने के वादे पर भरोसा किया था। आज कश्मीरी जनता का निर्णय कुछ भी हो सकता है। यह भी हो सकता है कि कश्मीर न भारत के साथ जाये और न ही पाकिस्तान के साथ और अपने स्वतंत्र अस्तित्व को चुने या फिर वह सशर्त भारतीय गणराज्य में शामिल हो। निर्णय कुछ भी हो सकता है और न्याय का यह तक़ाज़ा है कि किसी से ज़बर्दस्ती सेना के बूटों तले दबाकर कुछ मनवाया नहीं जाना चाहिए और कोई भी राष्ट्रीयता सैनिक बूटों तले दबकर समाप्त नहीं होती, चाहे फ़िलिस्तीन हो या कश्मीर। **कश्मीर महज़ कोई भूखण्ड नहीं है, कश्मीर सबसे पहले कश्मीरी लोगों का है।**

लेकिन वर्तमान परिस्थितियों में जनता का किसी भी संवाद का हिस्सा बनना असम्भव-सा है क्योंकि साम्राज्यवाद के दौर में पूँजीपति वर्ग दमित राष्ट्रीयताओं को आत्मनिर्णय का अधिकार देने की क्षमता खो चुका है। वास्तव में आज पूँजीपति वर्ग राष्ट्रीय प्रश्न को हल कर ही नहीं सकता है। साम्राज्यवाद के युग का मरणासन्न और परजीवी पूँजीवाद दमित राष्ट्रीयताओं को आत्मनिर्णय का अधिकार दे ही नहीं सकता क्योंकि मुनाफ़े की गिरती दर का संकट सर्वाधिक गम्भीर रूप में सामने है। लाभप्रद निवेश के अवसर घटते जा रहे हैं और बाज़ारों के लिए पूँजीवादी देशों में प्रतिस्पर्धा गलाकाटू रूप अख़्तियार कर चुकी है। ऐसे में, क्षेत्रीय विस्तारवाद भी बढ़ता है और पूँजीपति वर्ग का कट्टरपन्थी और प्रतिक्रियावादी चरित्र भी अत्यधिक बढ़ता जाता है। इस दौर में सभी दमित अस्मिताओं का उत्पीड़न बर्बरता की नयी सीमाओं को छूने लगता है। चाहे वे प्रवासी हों, दलित हों, स्त्रियाँ हों, आदिवासी हों या फिर दमित राष्ट्रीयताएँ। इसलिए भारत सरकार भी कश्मीरी क़ौम को किसी संवाद का हिस्सा बना ही नहीं सकती और यह उम्मीद करना बेकार है कि पहले ही समझौतापरस्त हो चुकी महबूबा मुफ़्ती या अन्य पार्टियाँ जनमत संग्रह की बात उठायें।

भारत सरकार द्वारा आरम्भ किये गये इस संवाद में भारत सरकार का पक्ष है कि वह पहले 'डीलिमिटेशन' की प्रक्रिया पूरी करेगी यानी लोकसभा और राज्यसभा के चुनाव क्षेत्रों का पुनर्निर्धारण, इसके बाद चुनाव और तब राज्य का दर्जा। वहीं गुपकर गठबन्धन का कहना है कि पहले राज्य का दर्जा दिया जाये, कुछ कश्मीर की पुरानी स्थिति यानी अनुच्छेद 370 और 35ए बहाल किये जाने की बात कर रहे हैं और तब चुनाव कराये जायें। इस वार्ता का परिणाम क्या होगा इसके बारे में बस इतना ही कहा जा सकता है कि भारत सरकार एक क़दम पीछे हट भी सकती है (जम्मू-कश्मीर को दिल्ली या पॉण्डिचेरी जैसे राज्य का दर्जा दे) या फिर संघ के हार्डलाइनरों के दबाव में यथास्थिति बनाये रखने पर अड़ी रहे। लेकिन पीछे हटने की स्थिति में भी कश्मीर का उत्पीड़न कम नहीं होगा और जनता निर्णय का हिस्सा नहीं होगी।

हम पहले ही लिख चुके हैं कि आज के दौर का पूँजीवाद आम तौर पर राष्ट्रों को आत्मनिर्णय का अधिकार और दमित राष्ट्रीयताओं को सुसंगत जनवाद नहीं दे सकता। लेकिन राष्ट्र केवल दमनकारी राष्ट्रों के अधिकार देने की वजह से मुक्त नहीं होते, वे अपने राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों के ज़रिए भी मुक्त होते हैं। यह अलग चर्चा का विषय है कि कश्मीर का राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष यह राष्ट्रीय मुक्ति हासिल कर सकता है या नहीं, लेकिन इतना तय है कि जब तक उसे राष्ट्रीय मुक्ति हासिल नहीं होती, तब तक शान्ति की कोई स्थायी स्थिति बहाल नहीं हो सकती है। एक सतत् टकराव की स्थिति बनी रहेगी, जो कभी सापेक्षिक तौर पर कम तीव्र हो सकती है, तो कभी विकराल रूप धारण कर सकती है। किसी भी राष्ट्र को हमेशा ग़ुलाम बनाकर नहीं रखा जा सकता है।

राष्ट्रों को अत्मनिर्णय का अधिकार आम तौर पर सबसे सुसंगत रूप में एक समाजवादी राज्य ही दे सकता है। सामान्य तौर पर कहें तो आज के दौर में पूँजीपति वर्ग से यह उम्मीद करना ही हास्यास्पद होगा कि वह किसी भी दमित राष्ट्र को आत्मनिर्णय का अधिकार देगा। हर दमित राष्ट्र में क्रान्ति की मंज़िल राष्ट्रीय जनवादी होती है। चाहे वहाँ सामन्ती अवशेष समाप्त हो चुके हों, तो भी पहला चरण राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति यानी राष्ट्रीय मुक्ति का ही हो सकता है। उसके बाद ही वहाँ समाजवाद का प्रश्न एजेण्डा पर आ सकता है। कश्मीर के बारे में भी यह बात सही साबित होती है। कम्युनिस्टों का कार्यभार है कि कश्मीर के राष्ट्रीय मुक्ति के संघर्ष को भारतीय राज्यसत्ता के विरुद्ध भारतीय मज़दूर वर्ग के समाजवादी क्रान्ति के संघर्ष से जोड़ें और भारत के मज़दूर वर्ग का कर्तव्य है कि वह कश्मीर के राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के अधिकार का बिना शर्त समर्थन करे और हर प्रकार के राष्ट्रीय कट्टरपन्थ और

(पेज 2 पर जारी)

देश के सभी ‘अर्बन नक्सलों’ से एक ‘अर्बन नक्सल’ की कुछ बातें

(पेज 1 से आगे)

भड़काने वाले दो हिन्दुत्ववादी फ़ासिस्ट गुण्डों को बेदाग़ छोड़कर ऐसे लोगों को पकड़ा गया जो नागरिक अधिकारों के लिए लम्बे समय से आवाज़ उठाते रहे थे। ‘न्यूज़क्लिक’ और ‘वायर’ जैसे कुछ वैकल्पिक पोर्टल्स पर आयी चन्द-एक रिपोर्टें कितने लोगों ने पढ़ी होंगी? और जिनके पास ऐसी रिपोर्ट पढ़कर शंका करने लायक़ विवेक है, उन्हें ही तो कुछ बोलते ही ‘अर्बन नक्सल’ जैसे विशेषणों के साथ समाज में अलग-थलग करने, सन्देह के घेरे में ला खड़ा करने और आतंक के साये में जीने के लिए सुनियोजित ढंग से विवश कर दिया जा रहा है।

हिटलर के फ़ासिस्ट झूठ-तंत्र से भी कई गुना ताक़तवर प्रचार तंत्र और सत्ता की तमाम संस्थाओं पर फ़ासिस्टों का क़ब्ज़ा

इस सत्ता के पास आतंक, दमन और यंत्रणा की अत्याधुनिक मशीनरी के साथ ही नयी डिजिटल तकनोलॉजी से लैस गोयबल्स के झूठ-तंत्र से कई-कई गुना अधिक शक्तिशाली और प्रभावी प्रचार-तंत्र है। और साथ ही यह एक ऐसी फ़ासिस्ट सत्ता है जो संसद, न्यायपालिका और तथाकथित निष्पक्ष जाँच-एजेंसियों के पूरे आबे-काबे के साथ अपने ख़ूनी मंसूबों को अंजाम दे रही है। चन्द जर्मन इज़ारेदार पूँजीपति घरानों के प्रति हिटलर की वफ़ादारी जितनी नंगी थी, अम्बानी-अदानी-टाटा आदि के प्रति मोदी की वफ़ादारी उससे कई गुना अधिक खुली अँधेरगर्दी भरी है। बुर्जुआ और सोशल डेमोक्रैट संसदीय विपक्ष अब रस्मी विरोध लायक़ भी नहीं बचा। ऐसे में मोदी सरकार सीधे-सीधे बुर्जुआ वर्ग की मैनेजिंग कमेटी के रूप में काम कर रही है। कोई पर्दा नहीं! कौड़ियों के मोल जल-जंगल-ज़मीन-खदानें और सार्वजनिक सम्पत्ति पूँजीपतियों को सौंपी जा रही है। इसके लिए सालाना करोड़ों लोगों को दर-बदर किया जा रहा है और बेरोज़गार बनाया जा रहा है। जनता की बचत को लूटने के लिए बैंकों के दरवाज़े खोल दिये गये हैं। एक के बाद एक काले क़ानून बनाये जाने का सिलसिला लगातार जारी है। फ़ासिस्टों के लिए एक राहत की बात यह भी है कि बिखरी हुई (और ज़्यादातर दिशाहीन) क्रान्तिकारी शक्तियों की ओर से फ़िलहाल उनके सामने कोई आसन्न चुनौती नहीं है और छोटे-मोटे, या इलाक़ाई चौहद्दियों में सिमटे प्रतिरोधों से वे ख़ून के दलदल में डुबो देने या जेल-फाँसी-क़ैदख़ाना-फ़र्ज़ी एनकाउण्टर आदि के सुसंगठित तंत्र के बूते बख़ूबी निपट ले रहे हैं। इस आतंक-राज के आगे आपातकाल के उन्नीस महीने तो कुछ भी नहीं हैं।

इस बात को बड़ी आसानी से समझा जा सकता है कि आतंक के ऐसे अँधेरे में जो चन्द लोग देश के अलग-अलग हिस्सों में वंचित-उत्पीड़ित लोगों की आवाज़ बन रहे हैं, सरकारी साज़िशों को, काले क़ानूनों के असली चरित्र को, पूँजीपतियों को हर तरीक़े से पहुँचाये जाने वाले फ़ायदों को बेनक़ाब कर रहे हैं, राजनीतिक बन्दियों के लिए लड़ रहे हैं, नागरिक और जनवादी अधिकारों की बात कर रहे हैं, न्याय तथा पुलिस-तंत्र पर सवाल उठा रहे हैं, कश्मीर के आम लोगों के ख़ूनी दमन, आदिवासियों के बीच निरन्तर जारी “उजाड़ो और मारो” मुहिम की सच्चाइयाँ सामने ला रहे हैं, दंगों, धार्मिक अल्पसंख्यकों के उत्पीड़न और सुनियोजित नरसंहारों की बात कर रहे हैं, रफ़ाएल, व्यापम आदि-आदि की बातें कर रहे हैं, वे सभी लोग फ़ासिस्ट सत्ता के निशाने पर हैं। जो आतंकित नहीं हो रहे हैं, झुक नहीं रहे हैं, उन्हें एक-एक करके ठिकाने लगाया जा रहा है, फ़र्ज़ी मुक़दमे थोपे जा रहे हैं, उन्हें काल-कोठरी में ठूँसा जा रहा है, और सरकारी या भाड़े के गुण्डों द्वारा उनकी हत्या की साज़िशों को अंजाम दिया जा रहा है।

जो भी आज नागरिक और जनवादी अधिकारों की बात करेगा, उजाड़े जा रहे आदिवासियों और ग़रीबों की बात करेगा, काले क़ानूनों का विरोध करेगा, साम्प्रदायिक उन्माद की राजनीति का विरोध करेगा, कैम्पसों पर कसते फ़ासिस्ट शिकंजे का विरोध करेगा, राजनीतिक बन्दियों के अधिकारों की बात करेगा, वह ‘अर्बन नक्सल’ है। ऐसे ही ‘अर्बन नक्सलों’ को निपटाने का एक सबसे बड़ा प्रोजेक्ट भीमा कोरेगाँव काण्ड का फ़र्ज़ी मुक़दमा है।

सौभाग्य से मैं भी एक ‘अर्बन नक्सल’ हूँ और इसी नाते अपने सभी ‘अर्बन नक्सल’ साथियों से ये बातें कर रही हूँ।

आतंक के सहारे चलने वाली हर फ़ासिस्ट और तानाशाह सत्ता ख़ुद डरी हुई होती है!

कल (5 जुलाई) फ़ादर स्टैन स्वामी की शहादत से फ़ासिस्टों की आँखों का एक काँटा निकल गया। वयोवृद्ध वरवर राव बड़ी मुश्किलों से जर्जर शरीर लिये जेल से ज़मानत पर बाहर आ सके। पर कब उन्हें कुछ नये आरोप लगाकर ये हत्यारे फिर भीतर कर दें, कुछ कहा नहीं जा सकता। शरीर से अस्सी प्रतिशत विकलांग जी.एन. साईंबाबा जेल के ‘अण्डा सेल’ में मौत की दहलीज़ पर खड़े हैं। गौतम नवलखा, सुधा भारद्वाज, शोमा सेन, वेर्नन गोंज़ालेस, रोना विल्सन, अरुण फ़रेरा, सुरेन्द्र गाडलिंग आदि – इनमें से कुछ को छोड़कर सभी साठ या सत्तर की उम्र के पार हैं और अधिकांश किसी न किसी ‘टर्मिनल डिज़ीज़’ के मरीज़ हैं। संजीव भट्ट के केस को भी नहीं भूला जा सकता। जेल की विकट परिस्थितियाँ इन सभी के लिए एक धीमी मौत के समान हैं। और हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि कश्मीर से लेकर छत्तीसगढ़ और उत्तर-पूर्व तक – पूरे देश में हज़ारों बेक़सूर लोग यू.ए.पी.ए. जैसी संगीन धाराओं में सीखचों के पीछे हैं। पिछले दो वर्षों के भीतर देशद्रोह और आतंकवाद जैसे संगीन आरोपों के जितने भी मुक़दमों के फ़ैसले आये, उनमें से 97 प्रतिशत से अधिक आरोपी बेक़सूर पाये गये। पचासों ऐसे मामले हैं जिनमें दस से बीस साल तक बिना ज़मानत या पेरोल के जेल में सड़ने के बाद कई युवा जब बूढ़े होकर बाहर निकले तो उनकी पूरी दुनिया उजड़ चुकी थी।

ज़ाहिर है कि हर फ़ासिस्ट और तानाशाह सत्ता मुख्यतः अपने आतंक के सहारे चलती है। वह डरती रहती है कि लोग कहीं उससे डरना न बन्द कर दें। वह डरती है कि लोग इस बात को जान न लें कि संगठित जन-शक्ति के सामने वह एक काग़ज़ी बाघ से अधिक कुछ भी नहीं। इसी भय से ग्रस्त भारत के हिन्दुत्ववादी फ़ासिस्ट मुखर आवाज़ों को निशाना बनाकर उन पर चोट कर रहे हैं। इसके ज़रिए वे जनता में एक सन्देश देना चाहते हैं।

लेकिन हर चुनौती सामना करने के लिए आती है। हर समस्या समाधान का टास्क बनकर हमारे सामने आती है। हर रात की सुबह होती है और रात के अँधेरे में भी इधर-उधर कुछ मशालें जलती ही रहती हैं।

आज जब मोदी-शाह की सरकार नागरिक आज़ादी और जनवादी अधिकार के लिए उठने वाली हर आवाज़ का गला घोंट देने के सुनियोजित प्रोजेक्ट पर काम कर रही है तो हमें भी ऐसी आवाज़ों को और बुलन्द और ताक़तवर बनाने के प्रोजेक्ट पर नये सिरे से, सुनियोजित ढंग से काम करना होगा।

व्यापक जन-समर्थन वाला ज़मीनी जनवादी अधिकार आन्दोलन खड़ा करना वक़्त की माँग है!

1970 के दशक में भारत में जनवादी अधिकार आन्दोलन ने जो गति पकड़ी थी, वह अगले दशक के अन्त तक ही सिमटने-बिखरने और संकुचित होने लगी थी। आज यह इतिहास का तक़ाज़ा है कि नयी ज़मीन पर नागरिक और जनवादी अधिकारों के आन्दोलन को फिर से खड़ा किया जाये और एक व्यापक जन-समर्थन वाले ज़मीनी आन्दोलन के रूप में खड़ा किया जाये। ऐसे बौद्धिकों की एक भारी संख्या मौजूद है। ज़रूरत उन्हें एक साझा लक्ष्य और साझा न्यूनतम कार्यक्रम पर एक साथ खड़ा करने की है। तमाम विचारधारात्मक और राजनीतिक मुद्दों पर मतभेद बने रहेंगे अभी, बहसें चलती रहेंगी अभी (और वे ज़रूरी भी हैं), अलग-अलग राजनीतिक-सामाजिक प्रयोग होते रहेंगे, लेकिन जनवादी अधिकारों का सवाल एक ऐसा सवाल है जिस पर एक साझा लड़ाई लड़ी जा सकती है और ज़रूर लड़ी जानी चाहिए। इस मायने में कोई भी राजनीतिक-सांगठनिक संकीर्णता आत्मघाती होगी।

एक बार फिर स्पष्ट कर दूँ कि यह कोई सुगठित निबन्ध नहीं है, बल्कि उन सभी साथियों के साथ एक ज़रूरी विचार-विमर्श है जो आज आम लोगों की नागरिक आज़ादी और जनवादी अधिकारों पर, और उनके अधिकारों की आवाज़ उठाने वाले लोगों और संगठनों पर, आज़ादी के बाद के भारत में हो रहे सबसे बड़े हमले की गम्भीरता को महसूस कर रहे हैं, उसे लेकर चिन्तित हैं और संजीदगी से संगठित होकर आवाज़ उठाने की ज़रूरत महसूस करते हैं।

मेरा यह स्पष्ट मत है कि आज के समय में मोदी-शाह सरकार के अन्धाधुन्ध दमन की कार्रवाइयों के ख़िलाफ़ और तमाम काले क़ानूनों के ख़िलाफ़ संगठित होना एक फ़ौरी ज़रूरत है, और इसके लिए ज़रूरी है कि नागरिक और जनवादी अधिकारों के पक्ष में सक्रिय सभी आवाज़ों को एक साथ लाया जाये। संगठित प्रतिरोध ही अब बचाव का एकमात्र रास्ता है! अगर अब भी हम इस दिशा में कोई ठोस क़दम नहीं उठाते हैं तो यह इतिहास की नज़रों में एक अक्षम्य भूल होगी!

1970 के दशक में आपातकाल के बाद का समय भारत में जनवादी अधिकार आन्दोलन के संगठित होने का पहला महत्वपूर्ण दौर था और उसके पीछे आपातकाल के काले दिनों की महत्वपूर्ण भूमिका थी। लेकिन जल्दी ही इस आन्दोलन में बिखराव की भी शुरुआत हो गयी। सत्तर के दशक के अन्त में पी.यू.सी.एल. में हुई फूट और पी.यू.डी.आर. के गठन के पीछे जो राजनीतिक-वैचारिक आग्रह काम कर रहे थे; नज़रिए की जो भिन्नता काम कर रही थी, वह अगले दशक तक राजनीतिक संकीर्णता की शक्ल अख़्तियार कर चुकी थी। 1980 के दशक में पूरे देश में दर्जनों जनवादी अधिकार संगठन काम कर रहे थे, लेकिन वे किसी साझा न्यूनतम कार्यक्रम के आधार पर एक साथ आने, या किसी फ़ेडरेशन या कॉन्फ़ेडरेशन जैसा ढाँचा बना पाने में असफल रहे। सच पूछें तो इस पर किसी का विशेष ज़ोर भी नहीं रहा। कई संगठन सिर्फ़ दमन-उत्पीड़न-विस्थापन की घटनाओं पर जाँच टीम बनाकर रिपोर्ट जारी करने, जनहित याचिकाएँ और बन्दी-प्रत्यक्षीकरण याचिकाएँ दाख़िल करने, ज्ञापन देने, प्रेस-विज्ञप्ति देने जैसी कार्रवाइयों तक सिमट कर रह गये। कुछ दूसरे थे जो केवल राजनीतिक बन्दियों की रिहाई, उनके उत्पीड़न और फ़र्ज़ी मुक़दमे हटाने जैसे सीमित मुद्दों पर ही काम करते रहे। इनमें से ज़्यादातर वे थे जो कमोबेश किसी मा-ले संगठन के फ्रण्टल संगठन की तरह काम कर रहे थे। इससे कुल-मिलाकर, नागरिक आज़ादी और जनवादी अधिकार आन्दोलन के मूल लक्ष्य को क्षति ही पहुँची।

भारत जैसे देश में, (i) जहाँ संविधान आपको जो नागरिक और जनवादी अधिकार देता है, उनको छीन लेने के सभी उपाय और प्रावधान संविधान के भीतर ही मौजूद हों, (ii) जहाँ मुट्ठी भर पढ़े-लिखे लोगों को छोड़कर ‘जुडिशियल रेमेडी’ तक आम लोगों की पहुँच ही न हो और केवल ‘लीगल रेमेडी’ ही वे हासिल कर सकते हों, (iii) जहाँ तमाम छिटफुट सुधारों, पुलिस आयोगों की रपटों आदि के बावजूद क़ानून-व्यवस्था, आई.पी.सी.-सी आर.पी.सी आदि, पुलिस तंत्र और जेलों की व्यवस्था और नियमन औपनिवेशिक काल से, यूँ कहें कि उन्नीसवीं शताब्दी से ही, कमोबेश वैसी ही चली आ रही हो, (iv) जिस देश में अकेले आज़ादी के बाद, केन्द्र और राज्यों के स्तर पर बने काले क़ानूनों की संख्या दर्ज़न भर से भी अधिक हो, (v) जहाँ आम लोगों की ख़ुद अपने नागरिक और जनवादी अधिकारों के प्रति सजगता और जानकारी न के बराबर हो, (vi) जिस देश के उत्तर-औपनिवेशिक समाज के ताने-बाने में ही जनवादी मूल्यों और संस्कृति का अभाव हो जिसका क्रूरतम और वीभत्सतम रूप जाति-व्यवस्था, दलित-उत्पीड़न, जेण्डर-आधारित उत्पीड़न के रूप में रोज़ हमारे सामने आता हो, (vii) जिस देश में जम्मू-कश्मीर और उत्तर-पूर्व के राष्ट्रों और राष्ट्रीयताओं के दमन का सात दशकों से भी लम्बा इतिहास हो और बहुसंख्यक आबादी को इस सच्चाई का पता ही न हो और इन इलाक़ों में सत्ता की सैन्य कार्रवाइयों को वह “अलगाववादी ताक़तों के ख़िलाफ़ सरकार की देशभक्तिपूर्ण कार्रवाई” के रूप में देखती रही हो, (viii) जो देश आज़ादी के बाद से ही बड़ी परियोजनाओं, खदानों, बाँधों आदि के निर्माण के लिए बड़े पैमाने पर बलात् विस्थापन और पुनर्वास के झूठे वायदों का गवाह रहा हो, (ix) जिस देश ने तेलंगाना किसान संघर्ष के सैनिक दमन के बाद, 1960 और 1970 के दशक के बड़े पैमाने के पुलिसिया दमन, एनकाउण्टर्स, गिरफ़्तारियाँ और फिर आपातकाल के काले उन्नीस महीने देखे हों; उस देश के जनवादी चेतना सम्पन्न नागरिकों को पहले ही एक व्यापक जनाधार वाले जनवादी अधिकार आन्दोलन को संगठित करने के प्रोजेक्ट पर काम शुरू कर देना चाहिए था।

कहा जा सकता है कि तृणमूल स्तर से एक रेडिकल सामाजिक आन्दोलन खड़ा करने में और एक सांस्कृतिक आन्दोलन खड़ा करने में भारत की जनपक्षधर राजनीतिक शक्तियों और प्रगतिशील बौद्धिक समुदाय की जो विफलता रही है, वैसी ही विफलता जनवादी अधिकार आन्दोलन के सन्दर्भ में भी रही है!

इस चूक की सबसे बड़ी क़ीमत देश की जनता ने विशेष तौर पर 1990 के दशक से चुकानी शुरू की जब नव-उदारवाद के साथ-साथ हिन्दुत्ववादी कट्टरपन्थी फ़ासीवाद का प्रचण्ड उभार शुरू हुआ। सभी प्राकृतिक संसाधन कौड़ियों के मोल पूँजीपतियों को सौंपने के लिए, खदानें खोदने, कारख़ाने खड़े करने और बाँध बनाने के लिए, आदिवासियों को और सुदूर ग्रामीण इलाक़ों की ग़रीब ग्रामीण आबादी को लगभग उतने ही बर्बर तरीक़े से उजाड़ा गया जैसे यूरोपीय आक्रान्ताओं ने सत्रहवीं शताब्दी से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक अमेरिकी महाद्वीप से मूल निवासियों को उजाड़ा था! नव-उदारवाद की इसी ज़मीन पर फ़ासिस्ट शक्तियों ने तेज़ी से पैर पसारे और आडवाणी की रथयात्रा, बाबरी मस्जिद ध्वंस, अटल की सरकार, गुजरात-2002 से होते हुए 2014 तक की यात्रा तय की। इस दौरान, कांग्रेस की बोनापार्टिस्ट क़िस्म

(पेज 9 पर जारी)

देश के सभी 'अर्बन नक्सलों' से एक 'अर्बन नक्सल' की कुछ बातें

(पेज 8 से आगे)

की निरंकुश सत्ता भी दमन और काले क़ानूनों के मामले में फ़ासिस्टों से अधिक पीछे नहीं थी। चिदम्बरम के 'ऑपरेशन ग्रीन हण्ट' को और यू.पी.ए. काल के काले क़ानूनों को भला कोई कैसे भूल सकता है! इस बात को कैसे भूला जा सकता है कि जिस एन.आई.ए. और यू.ए.पी.ए. का मोदी-शाह बर्बर इस्तेमाल कर रहे हैं, वे यू.पी.ए. काल की ही देन हैं जब कांग्रेस के साथ कई क्षेत्रीय दल और संसदीय वाम दल भी सत्ता में भागीदार थे! नागरिकों के निजी जीवन पर साइबर निगरानी का तंत्र खड़ा करने के प्रोजेक्ट पर भी यू.पी.ए. शासनकाल में ही काम शुरू हो चुका था, जब आधार कार्ड की योजना बनी थी। हम यहाँ इस राजनीतिक विश्लेषण के विस्तार में नहीं जायेंगे, क्योंकि यह हमारा अभीष्ट नहीं है। गुज़रे तीन दशकों के नव-उदारवादी दौर, या देश की राजनीतिक परिस्थितियों के विश्लेषण पर हमारे ऐसे बौद्धिकों से कुछ मतभेद भी हो सकते हैं, जो प्रगतिशील हैं, फ़ासिस्ट दमन के विरोधी हैं, जनवादी अधिकार आन्दोलन के पुनर्निर्माण की ज़रूरत को शिद्दत के साथ महसूस करते हैं, लेकिन वे मार्क्सवादी नहीं हैं। यानी राजनीतिक-सामाजिक परिस्थितियों और घटना-क्रम-विकास को लेकर बहस के जो मुद्दे हो सकते हैं, उन्हें हम यहाँ नहीं उठाना चाहते। उसके मंच कुछ और होंगे। यहाँ हम एक जनवादी अधिकार आन्दोलन के फ्रेमवर्क के भीतर ही अपनी बात कहेंगे!

उपरोक्त पृष्ठभूमि की चर्चा हमने मात्र इस सन्दर्भ को स्पष्ट करने के लिए की है कि क्यों स्वातंत्र्योत्तर भारत में, कम से कम आपातकाल के अनुभव के बाद, एक व्यापक जनवादी अधिकार आन्दोलन को, वास्तव में आन्दोलन के रूप में, और विशेष तौर पर व्यापक जनता में व्यापक आधार वाले आन्दोलन के रूप में तृणमूल स्तर से संगठित किया जाना चाहिए था। अदालती-क़ानूनी स्तर पर लड़ने, शहरों के जागरूक नागरिकों में समर्थन-आधार बनाकर सत्ता पर दबाव बनाने और मीडिया के मोर्चे पर अपनी मुस्तैदी के साथ ही आम लोगों की शहरी-देहाती आबादी के बीच भी जनवादी अधिकार आन्दोलन का पैठना ज़रूरी था, और है! और यह काम तभी हो सकता है जब आम लोगों को उनके जनवादी अधिकारों के प्रति जागरूक बनाने के लिए शिक्षा और प्रबोधन की व्यापक मुहिम चलायी जाये। दूसरे, यह भी ज़रूरी होगा कि जो सामाजिक संस्थाएँ-मूल्य-मान्यताएँ जाति और जेण्डर आधारित उत्पीड़न का कारक बनती हैं और दमनकारी राज्यसत्ता के लिए सामाजिक समर्थन-आधार का काम करती हैं; उनके विरुद्ध निरन्तर व्यापक अभियान चलाया जाये और दलित-उत्पीड़न तथा स्त्री-उत्पीड़न की आये दिन लगातार घट रही घटनाओं के विरुद्ध व्यापक जन-लामबन्दी की कोशिश की जाये। यह भी जनवादी अधिकार आन्दोलन का एक बुनियादी कार्यभार है! कह सकते हैं कि जनवादी अधिकार आन्दोलन और सामाजिक आन्दोलन के कार्यभार कई जगह 'ओवरलैप' करेंगे और कई बार ये दोनों हाथ में हाथ डाले साथ-साथ चलते हुए दिखाई देंगे। केवल तभी जाकर एक ऐसा व्यापक जनाधार वाला जनवादी और नागरिक अधिकार आन्दोलन खड़ा किया जा सकता है, जो उजाड़, विस्थापन, सैन्य-अर्द्ध-सैन्य बलों द्वारा दमन, अवैध गिरफ़्तारियों, राजनीतिक बन्दियों के उत्पीड़न, साम्प्रदायिक शक्तियों के ख़ूनी उत्पात, मॉब-लिंचिंग और काले क़ानूनों के ख़िलाफ़ मीडिया में बयान जारी करने, उच्च न्यायालय और मानवाधिकार आयोग के दरवाज़े खटखटाने, देश और दुनिया के गणमान्य बुद्धिजीवियों के बीच हस्ताक्षर अभियान चलाने और अन्तरराष्ट्रीय मंचों तक बात पहुँचाने तक ही सीमित नहीं रहेगा, बल्कि हज़ारों-हज़ार की संख्या में लोगों को सड़कों पर उतारने, जन-सत्याग्रह चलाने आदि में भी सक्षम होगा। और जब यह शक्ति हासिल कर ली जायेगी तो विरोध के जो तरीक़े आज प्रतीकात्मक प्रतीत होते हैं, उनकी शक्ति भी सौ गुना अधिक हो जायेगी। ज़ाहिर है कि यह एक दिन का काम नहीं है। यह एक लम्बा काम है जो निरन्तर सक्रियता की माँग करता है, कुछ समर्पित बुद्धिजीवी संगठनकर्ताओं की माँग करता है।

यह काम कोई संसदीय वामपन्थी दल नहीं कर सकता (सच यह है कि उन्होंने कभी अपनी चुनावी राजनीति से अलग, इस मोर्चे के बारे में गम्भीरता से सोचा ही नहीं), कोई एन.जी.ओ. भी नहीं कर सकता। कोई कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी संगठन अगर संकीर्ण राजनीतिक रुझान का परिचय न दे और ऐसे किसी संगठन को मात्र बन्दी-मुक्ति या राजनीतिक बन्दी-उत्पीड़न तक ही सीमित न कर दे, या अपने 'फ्रण्टल ऑर्गेनाइज़ेशन' जैसा न बना दे, तो भी इस काम को वह अपनी पहल पर हाथ में ले, यह आज के माहौल में उचित नहीं होगा, शायद इससे फ़ायदे के बजाय नुक़्सान ही हो जाये। यही नहीं, कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी संगठनों के सामने यह बात भी एकदम स्पष्ट होनी चाहिए कि अगर कोई संसदीय वाम या बुर्जुआ दल/व्यक्ति भी सत्ता के दमन-उत्पीड़न का शिकार होता है, या अगर किसी ऐसे आन्दोलन को भी सत्ता कुचलने की कोशिश करती है जिससे हम कदापि सहमत नहीं हैं (या जिसे वर्ग-चरित्र के हिसाब से हम जनता का आन्दोलन नहीं मानते), तो भी जनवादी और नागरिक अधिकार आन्दोलन ऐसे दमन-उत्पीड़न का जमकर विरोध करेगा। वाम विचारों के व्यापक दायरे के भीतर भी तीखे मतभेदों और वाद-विवाद के बहुत सारे मुद्दे हो सकते हैं (और हैं) लेकिन ऐसी बहसों के मंच अलग हैं। वहाँ ये ज़रूरी बहसें भरपूर 'पैशन-इमोशन' और कुशाग्र तर्कणा के साथ जारी रहनी चाहिए। लेकिन राजनीतिक सूझ-बूझ और दायित्वबोध का तक़ाज़ा यही है कि जनवादी अधिकार आन्दोलन के मंच पर ऐसी बहसें नहीं हो सकतीं और तमाम विचारधारात्मक और राजनीतिक मतभेदों के बावजूद, जनवादी अधिकार आन्दोलन के दायरे के भीतर साथ काम करने में कोई गुरेज़-परहेज़ नहीं होना चाहिए।

फ़ासिस्ट राज्यसत्ता के दमन-तंत्र के हमले के जवाब में साझा फ़ौरी कार्यभारों पर सोचना होगा!

ऊपर हमने नागरिक आज़ादी और जनवादी अधिकार आन्दोलन की एक दूरगामी दिशा, जनाधारित चरित्र और आम कार्यभारों की सामान्य चर्चा की है। इस दिशा में देशव्यापी विचार-मंथन के लिए बेहद ज़िम्मेदार, बौद्धिक दायरे में साख-रसूख़ वाले और जनवादी अधिकार के सवाल पर पहले से ही मुखर कुछ गणमान्य बुद्धिजीवियों की एक संयोजन/तालमेल कमेटी बनाकर संवाद और तैयारी की कार्रवाई शुरू की जा सकती है। यही तो हमारे समय की दुखद विडम्बना है कि जनवादी अधिकारों के सवाल पर और फ़ासिस्ट दमन एवं ख़ूनी उत्पातों के ख़िलाफ़ मुखर निर्भीक आवाज़ों की आज हमारे देश में कमी नहीं है। लेकिन चूँकि ये आवाज़ें बिखरी हुई हैं, और इनके पीछे किसी जनाधार या जनान्दोलन की ताक़त नहीं है, इसलिए फ़ासिस्ट सत्ता पर इनका यथोचित दबाव नहीं बन पाता।

अगर आज मुझे सुझाव देना हो तो मैं प्रशान्त भूषण, अरुन्धती रॉय, जगमोहन सिंह, आनन्द स्वरूप वर्मा, आनन्द पटवर्धन, राकेश शर्मा (फ़िल्मकार), राणा अय्यूब ('गुजरात फ़ाइल्स' की लेखिका), प्रतीक सिन्हा, प्रबीर पुरकायस्थ, नन्दिनी सुन्दर, हिमांशु कुमार, चमनलाल, पंकज बिष्ट, रूपरेखा वर्मा, रंगकर्मी अरविन्द गौड़, पत्रकारिता, थिएटर, सिनेमा और कला की दुनिया के कुछ अन्य चर्चित चेहरों आदि-आदि सहित कम से कम सौ नाम तो सुझा ही सकती हूँ! इसके अतिरिक्त जानकार लोग बंगला, मराठी, गुजराती, मलयाली, तमिल, तेलुगु, कश्मीर, उत्तर-पूर्व आदि क्षेत्रों के साहित्यिक-सांस्कृतिक-बौद्धिक जगत से अनेक नाम सुझा सकते हैं। इस मामले में मेरी जानकारी बहुत कम है। जनवादी अधिकार के मुद्दों पर सक्रिय देश के कम से कम सौ अग्रणी वकील तो होंगे ही, कुछ अवकाशप्राप्त जज भी हो सकते हैं और जिन जनवादी अधिकार कर्मियों को मोदी-शाह ने अभी भीमा-कोरेगाँव मामले में या अन्य किसी मामले में फँसाकर जेलों में ठूँस रखा है, उन्हें तो मैं इस पहल के लिए सम्पर्क किये जाने वालों की सूची में मानकर चल रही हूँ।

इतने व्यापक पैमाने पर अगर सम्पर्क किया जाये तो निश्चय ही पहल लेने लायक़ एक कोर-टीम खड़ी हो सकती है। निश्चय ही यह प्रक्रिया लम्बी होगी और अतीत के बिखराव के कारणों और संकीर्णता की प्रवृत्ति को लेकर पहले से ही सजग रहना होगा। मतभेद के मुद्दे आने पर इस प्रक्रिया को ही नहीं छोड़ दिया जाना चाहिए, बल्कि उन मुद्दों को छोड़कर आम सहमति का एक साझा न्यूनतम प्रोग्राम तैयार करने की कोशिश होनी चाहिए।

लेकिन यह पूरी प्रक्रिया तो लम्बी होगी, जबकि फ़ासिस्ट राज्यसत्ता के दमन-तंत्र ने जो हमला बोल दिया है, वह एक आसन्न चुनौती है। भीमा कोरेगाँव के फ़र्ज़ी मामले में जिन लोगों को फँसाया गया है वे सभी जाने-माने बुद्धिजीवी हैं जो बरसों से नागरिक आज़ादी और जनवादी अधिकारों के लिए आवाज़ उठाते रहे हैं। यही वे 'अर्बन नक्सल' हैं जो अब सीधे सरकार के निशाने पर हैं। अब इन्हीं ख्यात बुद्धिजीवियों को निशाने पर लिया गया है और देशद्रोह तथा प्रधानमंत्री पर हमले की साज़िश का आरोपी बनाया गया है, ताकि काले क़ानूनों के ख़िलाफ़ और पूरे देश में जारी बर्बर दमन-चक्र के ख़िलाफ़ बोलनेवाली सारी आवाज़ों को यह सन्देश दिया जा सके कि कालकोठरी और स्टैन स्वामी जैसी न्यायिक या सांस्थानिक हत्या से अगर बचना हो तो चुप्पी साध लो। स्टैन स्वामी अब हमारे बीच नहीं हैं। बड़ी मुश्किल से वरवर राव को छह महीने की मेडिकल बेल मिल सकी। तीन वर्ष बीत चुके हैं। पिछले साल अक्टूबर में एन.आई.ए. ने दस हज़ार पन्नों का अभियोग-पत्र दाख़िल किया है और मुक़दमे की सुनवाई तो अभी शुरू भी नहीं हुई है। जेल में बन्द दूसरे लोगों की ज़मानत की याचिकाएँ बार-बार ख़ारिज की जा चुकी हैं। इनमें से अधिकांश लोग साठ या सत्तर के पार उम्र वाले हैं और किसी न किसी 'टर्मिनल डिज़ीज़' के मरीज़ हैं। ज़ाहिर है, सरकार इन्हें लम्बे मुक़दमे के दौरान जेल में ही मार डालना चाहती है या उन्हें शारीरिक रूप से इतना जर्जर कर देना चाहती है कि वे फिर किसी तरह की सक्रियता लायक़ रह ही न जायें। शरीर से अस्सी प्रतिशत विकलांग जी.एन. साईंबाबा, यू.ए.पी.ए. के अन्तर्गत गिरफ़्तार केरल के पत्रकार सिद्दीक़ कप्पन और बरसों से जेल में बन्द पूर्व पुलिस अधिकारी संजीव भट्ट के मामले को भी भूला नहीं जा सकता। पूरे देश में यू.ए.पी.ए. जैसे काले क़ानूनों के अन्तर्गत जेल में हज़ारों लोग बन्द पड़े हैं और दस-दस, बीस-बीस साल जेल में बिताने के बाद बेक़सूर साबित होने के बाद 'ज़िन्दा लाश' बनकर बाहर आने वालों के मामले भी दर्जनों की संख्या में हैं। अपवादों को छोड़कर, न्यायपालिका सीधे-सीधे सरकार के इशारों पर काम कर रही है और एन.आई.ए., सी.बी.आई., आई.बी., ई.डी. आदि एजेंसियों की स्वतंत्रता और निष्पक्षता की बात करना तो एक मज़ाक़ से अधिक कुछ भी नहीं है।

ज़ाहिर है कि फ़ासिस्ट सत्ता जनवादी अधिकारों के पक्ष में उठने वाली हर आवाज़ को इसलिए ख़ामोश करना चाहती है ताकि वह अपने फ़ासिस्ट और नवउदारवादी एजेण्डे को निर्बाध रूप से लागू कर सके और इसके लिए पूरे देश में आतंक-राज क़ायम कर दिया जाये!

इसलिए, आज हमारे कुछ फ़ौरी कार्यभार भी बनते हैं जिन पर शायद ही किसी का कोई मतभेद हो। आज सबसे पहले इस बात पर सोशल मीडिया और तमाम वैकल्पिक माध्यमों के द्वारा, और विभिन्न शहरों में मीटिंगें आयोजित करके यह माँग उठायी जानी चाहिए कि (i) भीमा कोरेगाँव के फ़र्ज़ी मुक़दमे को तत्काल रद्द करके सभी आरोपियों को अविलम्ब रिहा किया जाये, (ii) दिल्ली दंगों के झूठे आरोपों और सीएए-एनआरसी के सिलसिले में फ़र्ज़ी आरोपों में बन्द उमर ख़ालिद, शरजील इमाम, ख़ालिद सैफ़ी आदि सभी को तुरन्त रिहा किया जाये, (iii) सिद्दीक़ कप्पन और संजीव भट्ट और ऐसे तमाम लोगों पर लादे गये मुक़दमे उठाकर उन्हें अविलम्ब रिहा किया जाये, (iv) सभी राजनीतिक बन्दियों को रिहा किया जाये, (v) यू.ए.पी.ए. जैसे सभी काले क़ानूनों और सीआरपीसी की राजद्रोह की धारा को निरस्त किया जाये (इसके लिए संसदीय विपक्षी दलों पर भी दबाव बनाना होगा) और एन.आई.ए. को तत्काल प्रभाव से भंग किया जाये, (vi) आर्सेनल की रिपोर्ट पर सरकार अन्तरराष्ट्रीय जाँच के लिए सहमति दे।

एक बेहद ज़रूरी काम यह भी है कि देश के कुछ गणमान्य न्यायविदों और जनवादी अधिकारकर्मियों को लेकर एक 'पीपल्स ट्रिब्यूनल' या जन-अदालत का गठन किया जाये जो भीमा कोरेगाँव मामले, आर्सेनल की रिपोर्ट, स्टैन स्वामी की मृत्यु और एन.आई.ए. की गतिविधियों पर विस्तृत सुनवाई के बाद अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करे। यह काम तो जल्द से जल्द किया जाना चाहिए। इस तरह के पीपल्स ट्रिब्यूनल बनाने की परम्परा अगर स्थापित हो जाये तो छत्तीसगढ़ से लेकर कश्मीर तक चुपचाप जैसे दमन और नर-संहारों को अंजाम दिया जा रहा है, उन पर और फ़ासिस्ट गुण्डा वाहिनियों द्वारा की जाने वाली हत्याओं, गुजरात, मुज़फ़्फ़रनगर और दिल्ली जैसे दंगों की साज़िशों और मॉब लिंचिंग की घटनाओं पर भी ऐसे ट्रिब्यूनल बैठाये जा सकते हैं।

जेल-व्यवस्था और पुलिस-व्यवस्था में सुधार, न्याय-व्यवस्था में सुधार (मुक़दमों का निर्धारित समय-सीमा में निपटारा, जजों के चुनाव की प्रणाली में बदलाव आदि), अपराध-विषयक क़ानूनों में बदलाव, बिना पुनर्वास के विस्थापन पर रोक और जीने के बुनियादी अधिकार सम्बन्धी बहुतेरी माँगें हैं जिन्हें जनवादी अधिकार आन्दोलन के माँगपत्रक में प्रमुखता के साथ स्थान देना होगा। लेकिन जैसाकि हमने पहले ही कहा, वह एक लम्बी प्रक्रिया होगी। अभी हम मुख्यतः फ़ौरी समस्या और चुनौती की बात कर रहे हैं।

अगर मेरी ये बातें तर्कसंगत और ज़रूरी लगती हैं तो इस दिशा में ज़रूर क़दम उठाया जाना चाहिए और एक नयी शुरुआत की जानी चाहिए। कहीं ऐसा न हो कि हम सोचते रह जायें और कल को बहुत देर हो जाये।

सभी 'अर्बन नक्सलों' से एक 'अर्बन नक्सल' की यह एक अपील है, इस आग्रह के साथ कि इसकी अनदेखी न करें!

* भीमा-कोरेगाँव केस में फँसाये गये सामाजिक कार्यकर्ताओं के कम्प्यूटर में फ़र्ज़ी फ़ाइलें डाले जाने के बारे में वाशिंगटन पोस्ट की रिपोर्ट इस लिंक पर देखें :

https://www.washingtonpost.com/world/2021/07/06/bhima-koregaon-case-india/?fbclid=IwAR1daBsuf3wW-J2ljeuTowoZysAGGcjEejgWz1z0o6RPuGOymndirr2E0is

पंजाब के खेत मज़दूरों के बदतर हालात का ज़िम्मेदार कौन?

– अरविन्द राठी

पंजाब का नाम आते ही हरेक के मन में एक ख़ुशहाल प्रदेश की छवि ही आती होगी। आये भी क्यों नहीं? यह राज्य हरित क्रान्ति की प्रयोगशाला बना और इसने खाद्यान्न उत्पादन के नये-नये कीर्तिमान स्थापित किये। लेकिन इस ख़ुशहाल छवि के पीछे एक चीज़ को हमसे छिपा दिया जाता है। वह चीज़ है इस चमक-दमक के पीछे ख़ून-पसीना बहाने वाले खेत मज़दूरों का जीवन। पंजाब के धनी किसान, कुलक और आढ़ती देश के सबसे धनी लोगों की क़तार में शामिल हो रहे हैं। उनके बड़े से बड़े कोठी-बंगले खड़े हो रहे हैं। कृषि में पूँजीवादी लूट और एमएसपी के तौर पर मिलने वाले अतिरिक्त ट्रिब्यूट से होने वाली उनकी आय पूँजी के रूप में देश-विदेश के नये-नये कारोबारों में लग रही है। अब इस बात की पड़ताल भी होनी चाहिए कि पंजाब की चमक-दमक और तथाकथित ख़ुशहाली के पीछे जिस खेत मज़दूर आबादी ने अपनी हड्डियाँ गला दीं, सिवाय शोषण और उत्पीड़न के उसे क्या नसीब हो रहा है? साथ ही हम यह भी देखेंगे कि मज़दूरों के नामलेवा संशोधनवादी, नरोदवादी, क़ौमवादी ट्रॉट-बुन्दवादी, "यथार्थवादी" और तमाम तरह की लोकरंजकतावादी पार्टियाँ और संगठन कैसे इन खेत मज़दूरों के हितों के साथ सौदा कर रहे हैं और वर्ग सहयोग की नीति अपनाकर धनी किसानों के वर्ग हितों की सेवा कर रहे हैं।

पंजाब के खेत मज़दूरों के हालात

एक सरकारी रिपोर्ट के अनुसार पंजाब में कुल 99 लाख की कार्यशक्ति (वर्कफ़ोर्स) में से तक़रीबन 35 लाख आबादी कृषि क्षेत्र से जुड़ी है जिनमें से तक़रीबन 15 लाख खेत मज़दूर हैं। खेत मज़दूरों में दो तिहाई आबादी अनुसूचित जातियों से सम्बन्ध रखती है। पंजाब कृषि विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्री सुखपाल सिंह की उपरोक्त रिपोर्ट के निष्कर्षों के अनुसार पंजाब के 81 प्रतिशत खेत मज़दूरों पर क़र्ज़ है। इनके हर परिवार पर औसत क़र्ज़ 1,01,837 रुपये है जबकि इन खेत मज़दूरों की सालाना औसत आय है मात्र 23,464 रुपये। सालाना मज़दूरी के इस आँकड़े से ही अन्दाज़ा लग सकता है कि पंजाब के कृषि क्षेत्र में न्यूनतम मज़दूरी के लिए बना श्रम क़ानून किस क़दर लागू हो रहा है! 2010-11 की अन्तिम जनगणना के अनुसार पंजाब में दलित आबादी 32 प्रतिशत है लेकिन उसके पास कुल कृषि भूमि का सिर्फ़ 6.02 प्रतिशत है। पंजाब के कुल 5 लाख 23 हज़ार ग़रीबी रेखा से नीचे रह रहे परिवारों में दलितों की संख्या 3 लाख 21 हज़ार है जोकि 61.4 प्रतिशत बैठती है। ग्रामीण मज़दूरों के लिए मनरेगा दो रोटी कमाने का साधन बना था लेकिन उसमें भी काम नहीं मिलता। 'ट्रिब्यून' अख़बार में छपी ख़बर के अनुसार वित्त वर्ष 2019-20 में मनरेगा के तहत पंजाब में साल भर में सिर्फ़ 31 दिन ही रोज़गार मुहैया करवाया गया। बठिण्डा आधारित एक ग्रामीण खेत मज़दूर यूनियन ने 2017 में एक सर्वे किया था जिसमें 6 ज़िलों के 13 गाँवों के 1618 मज़दूर परिवारों से आँकड़े इकट्ठे किये गये। सर्वे के अनुसार 1618 परिवारों में से 1364 परिवारों पर कुल 12.47 करोड़ का क़र्ज़ था यानी औसतन हर परिवार पर 91,437 रुपये का क़र्ज़। सर्वे में यह बात भी सामने आयी कि क़र्ज़ का ज़्यादातर हिस्सा बड़े किसानों से, जो 10 या उससे ज़्यादा एकड़ के मालिक हैं, लिया गया है।

देश की तरह पंजाब में भी खेत मज़दूरों की आत्महत्याओं के आँकड़े लगातार बढ़ रहे हैं लेकिन इस ओर न तो सरकारों का ध्यान है और न ही पी. साईनाथ और देविन्दर शर्मा जैसे ग्रामीण अर्थव्यवस्था के तथाकथित शुभचिन्तक एनजीओबाज़ों का। एक 'डोर-टू-डोर' सर्वे के अनुसार पंजाब के 6 ज़िलों के 2,400 गाँवों में सन 2000 से 2018 की अवधि में 7,303 खेत मज़दूरों ने क़र्ज़ तले दबकर आत्महत्या कर ली। 'दि ट्रिब्यून' में छपी एक रिपोर्ट के अनुसार पंजाब के खेत मज़दूरों पर औसतन क़र्ज़ उनकी आय से चार गुना ज़्यादा है। पंजाब सरकार अपने एक क़ानून के तहत आत्महत्या करने वाले खेत मज़दूर के परिवार को 3 लाख रुपये की सहायता राशि देने की बात करती है लेकिन 2015-16 से 2018-19 के बीच ऐसे 80 प्रतिशत परिवारों के आवेदन फ़ॉर्मों को ही रद्द करके कूड़े की टोकरी में फेंक दिया गया जिनके किसी सदस्य ने आत्महत्या की थी। कहना नहीं होगा कि पंजाब सरकार का खेत मज़दूर आबादी के जीवन और सुरक्षा पर कोई ध्यान नहीं है।

खेत मज़दूरों के शोषण का ज़िम्मेदार कौन है?

पंजाब में 10 हेक्टेयर से अधिक ज़मीन के मालिकाने वाले किसानों की सालाना औसत आय 12 लाख से अधिक और 4 हेक्टेयर से अधिक ज़मीन के मालिकाने वाले किसानों की सालाना औसत आय 5 लाख 60 हज़ार से अधिक बैठती है। यह तो इनकी घोषित आय है, अघोषित आय जो इन्हें प्रॉपर्टी डीलिंग, ठेकेदारी जैसे अन्य धन्धों और सूदख़ोरी से होती है उसका तो कोई अनुमान ही नहीं है। यह "आय" कुछ और नहीं है बल्कि उन मज़दूरों की श्रमशक्ति का मौद्रिक रूप है जिसे वे इनके खेतों में ख़ून-पसीने के तौर पर बहाते हैं। हम देख सकते हैं कि तथाकथित हरित क्रान्ति के दौरान हुए "विकास" ने किन्हें रसातल में पहुँचा दिया है और किनकी तिजोरियों को रुपयों से छलका दिया है।

धनी किसानों और कुलकों के आर्थिक शोषण और सामाजिक उत्पीड़न की वजह से ही खेत मज़दूरों के ऐसे हालात बने हैं। खेत मज़दूरों पर लादे गये क़र्ज़ का बड़ा हिस्सा इन्हीं धनी किसानों का ही है क्योंकि गाँव में यही वर्ग सूदख़ोर की भूमिका में भी होता है और सरकारी बैंक दर से कई गुना ज़्यादा ब्याज दर पर क़र्ज़ देता है। राज्य द्वारा एमएसपी के रूप में मिलने वाले ट्रिब्यूट यानी खेती से होने वाले मुनाफ़े से भी अतिरिक्त राशि को तो धनी किसान वर्ग दाँतों से पकड़े हुए है लेकिन खेत मज़दूरों को यह पूँजीवादी शोषण की चक्की में पीस डालना चाहता है। ग़रीब और सीमान्त किसान भी इसी ग्रामीण बुर्जुआ वर्ग के जाल में फँसे रहते हैं और अधिशेष, ब्याज और पूँजीवादी लगान के रूप में उसकी तिजोरी भरते रहते हैं।

"किसान-मज़दूर एकता ज़िन्दाबाद" का नारा किस वर्ग की सेवा करता है?

मौजूदा किसान आन्दोलन के दौरान धनी किसानों और कुलकों की तमाम यूनियनों के मंच से जो नारा सबसे अधिक उछाला जाता है वह है: 'किसान-मज़दूर एकता ज़िन्दाबाद" का नारा! सबसे पहले तो यही पूछा जाना चाहिए कि आपके "किसान" में कौन-कौन से किसान शामिल हैं? भला एक एकड़ के मालिक ग़रीब किसान के आर्थिक हित और एक सौ एकड़ के मालिक धनी किसान और कुलक के आर्थिक हित एक जैसे कैसे हो सकते हैं? दूसरा, उपरोक्त नारे में जिन मज़दूरों को शामिल किया जा रहा है, गाँव में उनकी ग़रीबी-लाचारी-बदहाली का तो प्रमुख कारण ही धनी किसानों और कुलकों द्वारा किया जा रहा उनका आर्थिक शोषण और सामाजिक उत्पीड़न होता है। यदि किसान यूनियनों को खेत मज़दूरों के साथ इतना ही भाईचारा गाँठना है तो उनके माँगपत्रकों में खेत मज़दूरों की न्यूनतम मज़दूरी, साप्ताहिक अवकाश, ओवर टाइम का डबल रेट से भुगतान जैसी माँगें क्यों शामिल नहीं होती हैं?

खेत मज़दूरों की दिहाड़ी को किया जा रहा नियंत्रित – ऐसे में क्या कर रहे हैं किसान-मज़दूर एकता के हिमायती और नामधारी कम्युनिस्ट

इस समय पंजाब में धान की रोपाई का मौसम चल रहा है। सोशल मीडिया पर पंजाब के गाँव कलसन, तहसील रायकोट और ज़िला लुधियाना में हाल ही में की गयी एक पंचायत का एक वीडियो वायरल हो रहा है। इस वीडियो में पंचायत द्वारा धान की रोपाई की प्रति एकड़ दिहाड़ी 'फ़िक्स' करने की बात हो रही है। पंचायत में कहा जा रहा है कि यदि कोई राशन समेत 3,200 और बिना राशन 3,500 रुपये से एक रुपया भी ज़्यादा लेगा या देगा तो उसपर 5000 रुपये जुर्माना लगाया जायेगा। पिछले दिनों इसी तरह की पंचायतें पंजाब के अन्य गाँवों में भी हुई हैं। हाल ही में सरसों और सोयाबीन की बिक्री के समय हमने देखा कि हरियाणा, पंजाब और राजस्थान से लेकर दक्षिण भारत के किसानों ने अपनी फ़सलों को एमएसपी से कहीं ज़्यादा बढ़ी हुई क़ीमतों पर मण्डी से बाहर खुले बाज़ार में बेचा और जमकर मुनाफ़ा कमाया। सरसों के तेल के दामों में आये उछाल का यह भी एक प्रमुख कारण है। लेकिन जब महँगाई-बेरोज़गारी के इस आलम में खेत मज़दूर अपने परिश्रमिक में प्रति व्यक्ति 50-100 रुपये बढ़ाने की बात करते हैं तो गाँवों की तमाम पंचायतें सक्रिय हो जाती हैं क्योंकि इन पर उच्च जातीय धनी किसानों का ही क़ब्ज़ा है। मज़दूरी पर "लगाम" लगाने वाली यह पंचायती बेशर्मी ठीक उस समय हो रही है जब दिल्ली के टिकरी, सिंघु और ग़ाज़ीपुर बॉर्डरों से खेत मज़दूरों को धनी किसान आन्दोलन में शामिल होने के लिए दुहाइयाँ दी जा रही हैं और मज़दूर-किसान एकता के नारे लगाये जा रहे हैं। ख़ुद के मार्क्सवादी होने का दम भरने वाले लोग भी धनी किसानों के सुर में सुर मिला रहे हैं। अवसरवादी धनी किसान नेतृत्व और मार्क्सवाद के खोल में बैठे बेशर्म कुलक प्रेमियों की यही असलियत है।

इसके अलावा पिछले दिनों ही हमने देखा था कि पंजाब के गाँवों की कई सारी पंचायतों ने धनी किसान आन्दोलन में शामिल न होने के चलते गाँव की ग़ैर-खेतिहर आबादी पर भी तमाम तरह के जुर्माने थोप दिये थे। गाँव में एक अच्छी-ख़ासी आबादी कृषि और अन्य पेशों में काम करने वाले मज़दूरों की भी रहती है जिस पर जुर्माने लगाने के लिए बाक़ायदा ग़ैर-क़ानूनी सर्कुलर तक जारी किये गये थे। किसान-मज़दूर एकता का नारा लगाने वाली तथाकथित किसान यूनियनों और तथाकथित कॉमरेडों ने इस पर भी चूँ तक नहीं की थी। उल्टा तमाम जगहों पर इनके स्थानीय नेताओं ने उक्त फ़रमानों का समर्थन किया और बहुत जगहों पर तो इन्हें थोपने वाले भी ये ख़ुद ही थे। मज़दूरों के नामलेवा संशोधनवादी, नरोदवादी, क़ौमवादी ट्रॉट-बुन्दवादी और "यथार्थवादी" इस मौक़े पर भी गान्धारी की तरह अन्धापन ओढ़े हुए थे।

अनियोजित लॉकडाउन - 2020 के समय जब धान लगाने के लिए खेती में काम करने हेतु प्रवासी मज़दूर नहीं आये या चले गये तो काम का दबाव स्थानीय मज़दूरों पर बढ़ गया था। माँग और आपूर्ति के नियम में जैसे कि होता ही है कि जब किसी चीज़ की आपूर्ति माँग से कम-ज़्यादा हो जाती है तो उसकी क़ीमत भी थोड़ा ऊपर-नीचे हो जाती है। इसके चलते और लॉकडाउन के कारण अन्य काम-धन्धे व आय के अन्य ज़रिए बन्द होने के कारण जब स्थानीय मज़दूरों ने अपनी मज़दूरी को थोड़ा बढ़ाने का प्रयास किया तो उन पर पंजाब की सैकड़ों पंचायतों द्वारा तरह-तरह की ग़ैर-क़ानूनी बन्दिशें और जुर्माने थोप दिये गये जबकि यह बढ़ी हुई मज़दूरी भी औसतन कुल-मिलाकर सरकारी न्यूनतम मज़दूरी से कम ही बैठती थी। लेकिन इस पर भी धनी किसानों के क़ब्ज़े वाली पंचायतों ने मज़दूरी की बाक़ायदा सीमा (लिमिट) तय कर दी थी और थोड़ी ज़्यादा मज़दूरी की माँग करने वालों को तरह-तरह से प्रताड़ित किया गया था। यही नहीं, गाँवों में खेती का काम पूरा होने तक गाँव से बाहर मज़दूरी करने जाने पर भी प्रतिबन्ध लगा दिये गये। इस काम को भी धनी किसानों की जेबों में रहने वाली पंचायतों ने अंजाम दिया। मज़दूरों पर तरह-तरह की बन्दिशें थोपकर प्रताड़ित करने वाले ये वे ही लोग हैं जो अपनी लागत से पचास फ़ीसदी ज़्यादा पर अपनी फ़सल बेचने की गारण्टी का क़ानून चाहते हैं जबकि जिनके दम पर ये तथाकथित हरित क्रान्ति के मज़े लूट रहे हैं, उनके पसीने की आख़िरी बूँद तक निचोड़ लेना चाहते हैं। यही है धनी किसानों की खेत मज़दूरों के साथ एकता के नारे की असलियत!

"किसान-मज़दूर एकता" का नारा उछालने वाली धनी किसानों की तथाकथित किसान यूनियनों की भूमिका यहाँ भी साफ़ हो गयी थी। उस वक्त कृषि मसलों के तथाकथित जानकार केसर सिंह भंगु जैसे लोग यह राय दे रहे थे कि किसान प्रति एकड़ उतनी ही मज़दूरी दें जितनी वे पहले देते थे और बढ़ी हुई बाक़ी मज़दूरी मनरेगा के कोष से दी जाये! मतलब मनरेगा का पैसा धनी किसानों के निजी मुनाफ़े को बढ़ाने में इस्तेमाल किया जाये! यह बात कहने में धनी किसानों के चाटुकारों को लज्जा भी नहीं आती! किसान यूनियन नेता कहते पाये गये कि मज़दूरों को मज़दूरी देने की बजाय डीएसआर (जिसमें धान की पौध लगाने की बजाय सीधे बीज को ही रोप दिया जाता है) तकनीक का प्रयोग किया जाये। बीकेयू उगराहाँ बठिण्डा के स्थानीय नेता जगसीर सिंह का कहना था, "हमारे इलाक़े में बड़ी संख्या में पंचायतों ने प्रति एकड़ के हिसाब से रेट निर्धारित कर दिये हैं। 200 से 300 रुपये की बढ़ोत्तरी स्वीकार्य है लेकिन खेत मज़दूर 900 से लेकर 1800 रुपये तक की बढ़ोत्तरी चाह रहे हैं।" धनी किसानों और कुलकों की तमाम यूनियनें मज़दूर-किसान एकता की पैरोकार तो बनती हैं लेकिन ये सीधे तौर पर खेत मज़दूरों के ख़िलाफ़ धनी किसानों और उनके ग़ैर-क़ानूनी पंचायती फ़रमानों के पक्ष में ही खड़ी रहती हैं। इनके लिए खेत मज़दूर और ग़रीब किसान धनी किसानों की रैलियों में भीड़ बढ़ाने और सिर फुड़ाने की चीज़ से ज़्यादा कुछ नहीं हैं।

चीन के लुटेरे शासकों के काले कारनामे महान चीनी क्रान्ति की आभा को मन्द नहीं कर सकते

फिर उठ खड़ी होगी चीन में एक सच्ची क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी

यह लेख चीन की कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना की 90वीं वर्षगाँठ पर 'मज़दूर बिगुल' में प्रकाशित हुआ था। चीन की नाममात्र की कम्युनिस्ट पार्टी इस महीने स्थापना की 100वीं वर्षगाँठ मनाने जा रही है मगर यह लेख लिखे जाने के बाद से उसके चरित्र में कोई बदलाव नहीं हुआ है। उसके शासन में चीन एक साम्राज्यवादी देश बनने की राह पर तेज़ी से बढ़ रहा है जिसका आधार अपने देश ही नहीं, दुनिया के अनेक देशों के मेहनतकशों का शोषण है। शी ज़िनपिंग के जुमलों से कुछ लोगों को भ्रम हो गया है कि वह चीन को फिर समाजवाद की राह पर ले जाने की कोशिश कर रहा है, लेकिन ऐसे लोगों को न तो ज़िनपिंग के नेतृत्व में चीनी पार्टी के पैंतरों की ठीक से जानकारी और समझ है, और न ही समाजवादी संक्रमण की कोई समझ है। आगामी अंक में हम चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की 100वीं वर्षगाँठ पर एक विशेष लेख में इस पर विस्तार से लिखेंगे। इस अंक में हम पृष्ठभूमि के तौर पर इस लेख को फिर से प्रस्तुत कर रहे हैं। साथ में चीन में माओ के समर्थकों और सही कम्युनिस्टों के दमन पर एक रिपोर्ट भी प्रस्तुत है। – सम्पादक

– सत्यप्रकाश

दुनिया की महानतम क्रान्तियों में से एक, चीन की नवजनवादी क्रान्ति का नेतृत्व करने वाली चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना के 90 वर्ष पिछली 1 जुलाई 2011 को पूरे हो गये। यह इतिहास की एक अश्लील विडम्बना है कि पार्टी की 90वीं वर्षगाँठ का जश्न वे लोग मना रहे थे जिन्होंने पिछले 35 वर्षों के दौरान इस क्रान्ति की एक-एक उपलब्धि को धूल में मिला दिया है।

पूरी दुनिया का पूँजीवादी मीडिया चीनी क्रान्ति और उसके नेता माओ त्से-तुङ के ख़िलाफ़ अफ़वाहों, कुत्सा-प्रचारों और झूठ के अम्बार खड़े करता रहा है। मगर इस समस्त झूठे प्रचार और चीन के नये पूँजीवादी शासकों के काले कारनामों से उस महान क्रान्ति की आभा मन्द नहीं पड़ी है जिसने सदियों से लूटे और कुचले जा रहे विशाल देश की सोयी हुई जनता को एक प्रचण्ड चक्रवाती तूफ़ान की भाँति जगाकर खड़ा कर दिया था। चीन की साम्राज्यवाद-सामन्तवाद विरोधी क्रान्ति ने एशिया-अमेरिका-लातिन अमेरिका के अधिकांश उपनिवेशों-अर्द्धउपनिवेशों और नव उपनिवेशों में जारी राष्ट्रीय मुक्तियुद्धों के लिए पथ-प्रदर्शक की भूमिका निभायी। लोकयुद्धों की विजय ने उपनिवेशवाद के दौर को सदा के लिए इतिहास की कचरा पेटी के हवाले कर दिया और साम्राज्यवाद को पीछे हटने के लिए मजबूर कर दिया था।

चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में चीनी जनता ने तेज़ी से डग भरे और विकट चुनौतियों का सामना करते हुए करोड़ों-करोड़ लोगों को भूख, अभाव, बर्बर सामन्ती दासता, उत्पीड़न और पिछड़ेपन से मुक्त करने की दिशा में शानदार उपलब्धियाँ हासिल कीं। सामूहिक शक्ति और जनता की ताक़त के बल पर क्या किया जा सकता है इसकी अद्भुत मिसालें पेश करते हुए चीनी जनता ने कृषि, उद्योग, शिक्षा, स्वास्थ्य, विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्रों में कुछ ही वर्षों में जैसी अभूतपूर्व प्रगति की उसने पश्चिम के विशेषज्ञों को दाँतों तले उँगली दबाने पर मजबूर कर दिया। एक समय ऐसा था जब पश्चिम के तमाम विश्वविद्यालयों और शोध संस्थानों में सबसे अधिक शोध और अध्ययन चीन में हो रही अद्भुत और करिश्माई घटनाओं पर किया जा रहा था। करोड़ों-करोड़ जनता की पहलक़दमी को जगाने और उसे बदलाव की ज़बर्दस्त शक्ति में तब्दील करने का नेतृत्व कर रही थी चीन की कम्युनिस्ट पार्टी।

तब से लेकर आज तक एक लम्बा समय बीत चुका है। सोवियत संघ और चीन में प्रगति, न्याय, समता और स्वतंत्रता के नये कीर्तिमान स्थापित करने वाली हमारी सदी की दोनों महानतम क्रान्तियाँ मानवता को बहुत कुछ दे चुकने के बाद पराजित हो चुकी हैं। 1976 में माओ त्से-तुङ की मृत्यु के बाद चीन में सत्ता पर क़ब्ज़ा करने वाले पूँजीवादी पथगामी "बाज़ार-समाजवाद" के नाम पर अब पूँजीवाद को मुकम्मल तौर पर बहाल कर चुके हैं। इस उल्टी लहर का असर पूरी दुनिया पर हुआ है। मेहनतकश अवाम के ख़िलाफ़ दुनिया भर के पूँजीपतियों ने अपनी पूँजी की ताक़त और आर्थिक नीतियों से तो चौतरफ़ा हमला बोला ही है, विचार और संस्कृति के स्तर पर भी वे हावी होकर लड़ रहे हैं। मेहनतकश जनता से अतीत की सर्वहारा क्रान्तियों की स्मृतियों को, समतामूलक भविष्य के स्वप्नों को और समाजवादी परियोजनाओं को छीनने की हर चन्द कोशिशें की जा रही हैं। क्रान्ति की धारा पर प्रतिक्रान्ति की धारा पूरी तरह हावी दीख रही है। लोगों को यक़ीन दिलाने की कोशिश की जा रही है कि पूँजीवाद ही मानव-इतिहास के विकास की आख़िरी मंज़िल है।

"चीनी जनता उठ खड़ी हुई है!" एक अक्टूबर, 1949 को राजधानी पेइचिङ के केन्द्र में स्थित तिएन एन मेन चौक में लहराते विशाल जनसमुद्र के समक्ष इसी उद्घोष के साथ माओ त्से-तुङ ने चीनी लोक गणराज्य की स्थापना की घोषणा की थी।

लम्बे, शौर्यपूर्ण जनयुद्ध ने दिखायी मुक्ति की राह

चीन एक शताब्दी से भी कुछ अधिक समय तक साम्राज्यवादी प्रभुत्व और बन्दरबाँट का शिकार रहा। पहले से ही मध्यकालीन सामन्ती उत्पीड़न से तबाह और टूटी हुई किसान जनता से साम्राज्यवादी ताक़तों ने ख़ून की आख़िरी बूँद तक निचोड़ लेने की कोशिश की। 1840 के दशक में ब्रिटेन ने अफ़ीम युद्ध इसलिए छेड़ा कि चीनी अफ़ीम का व्यापार जारी रखें। लाखों चीनी अफ़ीमची हो गये और ब्रिटेन के व्यापारियों-बैंकरों की थैलियाँ मोटी होती रहीं।

डॉ. सुन यात-सेन के नेतृत्व में हुई 1911 की पूँजीवादी जनवादी क्रान्ति ने सामन्ती राजतंत्र का तख़्ता तो पलट दिया पर यह क्रान्ति अधूरी रही। साम्राज्यवादी षड्यंत्र ने चीन को अलग-अलग युद्ध-सरदारों के प्रभुत्व वाले कई "राज्यों" में बाँट दिया। चीन के किसान बर्बर सामन्ती उत्पीड़न के शिकार थे। शहरी व्यापारिक और औद्योगिक अर्थव्यवस्था नौकरशाह-दलाल पूँजीपतियों के माध्यम से सीधे साम्राज्यवाद के मातहत थी।

क्रान्ति काल में माओ त्से-तुङ खदान मज़दूरों से बात करते हुए

मई, 1919 का महीना चीन के इतिहास का एक नया प्रस्थान बिन्दु सिद्ध हुआ। चीन के छात्रों-युवाओं की भारी आबादी चीन पर विदेशी प्रभुत्व – विशेषकर जापानी प्रभुत्व – का विरोध करने के लिए उठ खड़ी हुई। '4 मई आन्दोलन' नाम से प्रसिद्ध इस आन्दोलन ने ठहरे हुए चीनी समाज में उथल-पुथल पैदा कर दी। क्रान्तिकारी जनवादी विचारों से प्रभावित छात्रों के बीच से आगे बढ़कर कई युवाओं ने बाद में चीनी कम्युनिस्ट पार्टी और चीनी क्रान्ति में अग्रणी एवं नेतृत्वकारी भूमिका निभायी।

4 मई आन्दोलन के आसपास ही चीनी क्रान्ति के भावी नेता, युवा माओ त्से-तुङ पहली बार मार्क्सवाद के सम्पर्क में आये। जुलाई, 1919 में उन्होंने हुनान से एक पत्रिका निकालनी शुरू की और 1920 की गर्मियों में क्रान्तिकारी विचारों के प्रचार-प्रसार के लिए उन्होंने एक सांस्कृतिक अध्ययन सोसायटी संगठित की। 1920 की शरद में उन्होंने च्याङशा में कम्युनिस्ट ग्रुप क़ायम किये।

चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना और क्रान्तिकारी संघर्ष का विकास

1 जुलाई, 1921 को शंघाई शहर में चेन तू जिउ और ली ता चाओ के नेतृत्व में चीन की कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना हुई। हालाँकि पार्टी के गठन की औपचारिक घोषणा दक्षिणी झील में एक बड़ी नाव पर हुई क्योंकि चीनी और फ़्रांसीसी जासूसों के कारण बैठक का स्थान बदलना पड़ गया था। इससे कुछ वर्ष पहले से ही चीन में कम्युनिस्ट अध्ययन मण्डल और उनके आपसी तालमेल का अनौपचारिक नेटवर्क काम करने लगा था। 1 जुलाई को हुई स्थापना कांग्रेस में विभिन्न कम्युनिस्ट समूहों के 53 प्रतिनिधि तथा कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल के दो प्रतिनिधि शामिल थे। माओ त्से-तुङ हुनान कम्युनिस्ट ग्रुप के दो प्रतिनिधियों में से एक की हैसियत से इसमें मौजूद थे। इस कांग्रेस में सभी कम्युनिस्ट ग्रुपों ने अपने अलग-अलग नामों को ख़त्म कर चीन की कम्युनिस्ट पार्टी नाम से काम करने का निर्णय किया और आम सहमति से क्रान्ति का कार्यक्रम तय किया।

शुरुआती कुछ वर्षों के दौरान चीनी समाज की प्रकृति और चीनी क्रान्ति के विशिष्ट स्वरूप के बारे में ग़लत धारणाओं के चलते चीनी कम्युनिस्टों को एक के बाद एक कई हारों का सामना करना पड़ा। क्रान्तिकारी सेनाएँ प्रतिक्रियावादी सेनाओं से घिर गयीं और उनका अन्त क़रीब लगने लगा। इस कठिन स्थिति से क्रान्ति को उबारकर आगे बढ़ाने में माओ ने नेतृत्वकारी भूमिका निभायी। उस समय से लेकर 1949 में जनवादी क्रान्ति सम्पन्न होने तक, और फिर आगे समाजवादी निर्माण एवं क्रान्ति के कठिन वर्ग संघर्ष और अनूठे प्रयोगों भरे दौर में, 1976 तक, मृत्युपर्यन्त माओ ने चीनी कम्युनिस्ट पार्टी और जनता को नेतृत्व दिया। यही नहीं, चीन की जनवादी क्रान्ति और फिर समाजवादी क्रान्ति के दौर के प्रयोगों – विशेषकर 1966-76 की सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के विश्वव्यापी ऐतिहासिक महत्व को देखते हुए माओ त्से-तुङ को मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन और स्तालिन के बाद अन्तरराष्ट्रीय सर्वहारा वर्ग के पाँचवे शिक्षक और नेता का दर्जा दिया गया।

माओ त्से-तुङ ने पहली बार यह स्थापना दी कि चीन जैसे बहुसंख्यक किसान आबादी वाले अर्द्धसामन्ती-अर्द्धऔपनिवेशिक देश में किसान क्रान्ति की मुख्य ताक़त होंगे। सर्वहारा

(पेज 12 पर जारी)

चीन के लुटेरे शासकों के काले कारनामे महान चीनी क्रान्ति की आभा को मन्द नहीं कर सकते

(पेज 11 से आगे)

वर्ग की भूमिका यहाँ नेतृत्वकारी होगी। उन्होंने कम्युनिस्ट पार्टी, लाल सेना और संयुक्त मोर्चा को नवजनवादी क्रान्ति के तीन चमत्कारी हथियारों की संज्ञा दी। रूसी क्रान्ति के सशस्त्र आम बग़ावत के रास्ते से अलग माओ ने दीर्घकालिक लोकयुद्ध के क्रान्ति मार्ग का राजनीतिक एवं सैनिक सिद्धान्त कठिन क्रान्तिकारी संघर्षों के दौरान विकसित किया। उन्होंने बताया कि चीनी क्रान्ति देहातों में लाल आधारों का निर्माण करके, शहरों को घेरकर और इस प्रकार अन्ततः पूरे देश में राजनीतिक सत्ता जीतकर ही विजयी हो सकती है। अपनी इस प्रस्थापना को उन्होंने व्यवहार में भी सिद्ध कर दिखाया।

भूमि क्रान्ति के कठिनतम दौर में प्रतिक्रान्तिकारी सेना की भारी शक्ति से बचने के लिए लाल सेना ने उस ऐतिहासिक 'लम्बे अभियान' की शुरुआत की, जिसकी अतुलनीय शौर्य-गाथा पर दुनिया दंग रह गयी। अक्टूबर, 1934 में शुरू हुए इस महा अभियान के दौरान लाल सेना ने प्रतिदिन शत्रुओं से लोहा लेते हुए 6,000 मील की यात्रा 12 प्रान्तों, 18 पहाड़ों और 24 नदियों को पार करते हुए 13 महीनों में पूरी की। 1,60,000 लोगों में से सिर्फ़ 8,000 लोग ही शान्सी पहुँचने तक बचे रहे। पर यह अकूत क़ुर्बानी रंग लायी। 'लम्बे अभियान' ने क्रान्ति के अग्निमुखी बीज पूरे देश के किसानों में बो दिये। माओ की भविष्यवाणी को चरितार्थ करती हुई करोड़ों किसान जनता एक प्रचण्ड, अदम्य तूफ़ान की तरह उठ खड़ी हुई। जापानी साम्राज्यवादियों को धूल चटाने के साथ ही अमेरिकी साम्राज्यवाद समर्थित च्याङ काइ शेक की फ़ौजों को हराकर 1 अक्टूबर, 1949 को (ताइवान, हाङकाङ और मकाओ को छोड़कर) पूरे चीन को लाल कर देने का सपना साकार हो गया।

समाजवादी निर्माण के शानदार प्रयोग

चीन लोक गणराज्य की स्थापना के बाद माओ ने कहा था, "देशव्यापी स्तर पर जीत हासिल करना दस हज़ार ली लम्बे अभियान का पहला क़दम मात्र है। चीनी क्रान्ति महान है, लेकिन क्रान्ति के बाद का रास्ता तथा कार्य अधिक महान एवं अधिक कठिन है।"

इन शब्दों में क्रान्ति का स्वागत करते हुए माओ ने एक बेहद पिछड़े देश को समाजवाद के प्रकाश स्तम्भ और विश्व क्रान्ति के आधार-क्षेत्र में रूपान्तरित कर देने के लिए चीनी के सर्वहारा वर्ग और व्यापक जनता को तैयार किया। लोक युद्ध के लम्बे वर्षों और आधार क्षेत्रों में व्यवस्था-संचालन के अनुभवों ने इस नयी यात्रा में काफ़ी मदद की। मानव इतिहास में सबसे बड़े पैमाने पर भूमि के पुनर्वितरण और विदेशी तथा दलाल पूँजीपतियों के कारख़ानों एवं पूँजी के राष्ट्रीकरण के साथ-साथ स्त्रियों को पूरी समानता देने सहित सामाजिक जीवन में भी अनेक क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए।

नवजनवादी क्रान्ति के कार्यभारों को पूरा करने के साथ ही माओ त्से-तुङ के नेतृत्व में चीन की पार्टी और जनता समाजवादी क्रान्ति को अंजाम देने में एक ऐसी आत्मनिर्भर समाजवादी अर्थव्यवस्था के निर्माण में जुट गयी जो विश्व साम्राज्यवादी बाज़ार की दमघोंटू और विकलांग बना देने वाली जकड़बन्दी से मुक्त हो। जल्दी ही दुनिया ने यह चमत्कार भी घटित होते देखा। पचास के दशक में चीन की मेहनतकश आबादी के श्रम को एक विराट शक्ति के रूप में सृजनशील और उत्पादक बनाकर अकाल, भुखमरी, बीमारियों, अशिक्षा और पिछड़ेपन के लिए प्रसिद्ध देश का कायापलट कर दिया गया। दस वर्षों के भीतर बेरोज़गारी का ख़ात्मा हो गया। गाँवों से लेकर शहरों तक स्त्रियों की भारी आबादी चूल्हे-चौखट से बाहर आकर कम्यूनों में सामाजिक उत्पादन से लेकर प्रबन्धन एवं राजनीति तक के कामों में शिरकत करने लगी। स्वास्थ्य और शिक्षा की सेवाएँ सर्वसुलभ हो

(पेज 14 पर जारी)

क्रान्तिकारी मार्क्सवाद से भयाक्रान्त चीन के नक़ली कम्युनिस्ट शासक

– सत्यम

चीन में तेज़ होते मज़दूर आन्दोलनों और जनता में बढ़ते असन्तोष के दौर में वहाँ के पूँजीवादी शासक समाजवाद के नाम पर चल रही अपनी शोषक सत्ता की वैधता साबित करने के लिए आजकल नये सिरे से मार्क्सवाद की दुहाई देने में लगे हुए हैं। मई 2018 में, कार्ल मार्क्स के 200वें जन्मदिन पर राष्ट्रपति शी ज़िनपिङ ने चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्यों से फिर से मार्क्स की कृतियों, ख़ासकर 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' का अध्ययन करने के लिए कहा। एक टीवी शो 'मार्क्स ने सही कहा था' के ज़रिए आम जनता को भी मार्क्सवाद का पाठ पढ़ाया जाता है। लेकिन शी और चीनी पार्टी की प्रचार मशीनरी जिस मार्क्सवाद को प्रस्तुत कर रहे हैं, वह दरअसल मार्क्सवाद की क्रान्तिकारी आत्मा को निकालकर बनायी गयी विचारों की एक ऐसी घुट्टी है जिसे पीने के बाद लोगों को "चीनी विशेषताओं वाला बाज़ार समाजवाद" ही असली समाजवाद लगने लगे; ऐसा समाजवाद जिसमें करोड़ों मज़दूरों के बर्बर शोषण और दमन के बूते देशी-विदेशी लुटेरी कम्पनियों के मुनाफ़े बढ़ते जायें और जिसमें मज़दूरों का ख़ून चूसने वाले खरबपति जोंक भी कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य बनने के लिए आमंत्रित किये जाते हों!

लेकिन शी ज़िनपिङ और उसके गुर्गों के मार्क्स प्रेम की असलियत चीन की जनता समझने लगी है। जो नौजवान और बुद्धिजीवी वास्तव में मार्क्स की क्रान्तिकारी शिक्षाओं को समझकर उन्हें जीवन में उतारने की कोशिश करते हैं उन पर राज्यसत्ता का दमनतंत्र पूरी ताक़त से टूट पड़ता है। चीन में छात्रों द्वारा चलाये जा रहे अनेक मार्क्सवादी अध्ययन मण्डलों पर छापे मारकर उन्हें बन्द कराया जा रहा है और चीनी क्रान्ति के नेता माओ त्से-तुङ को याद करने पर लोगों को क़ैद किया जा रहा है।

अब चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के शताब्दी समारोह से पहले "स्थिरता बनाये रखने" के लिए माओवादी कार्यकर्ताओं की धरपकड़ की राष्ट्रव्यापी मुहिम चलायी जा रही है। शेंडोंग प्रान्त के जीनिंग शहर में पुलिस ने कई कार्यकर्ताओं और बुद्धिजीवियों को गिरफ़्तार किया है। ताईवान की सेण्ट्रल न्यूज़ एजेंसी के अनुसार 12 मई को शुरू हुए ऑपरेशन को बड़े पैमाने पर गुप्त रूप से अंजाम दिया गया है, जिसमें बन्दियों के लापता होने के बाद उनके परिवारों को कोई जानकारी नहीं दी गयी है। इनमें 77 वर्षीय माओवादी बुद्धिजीवी मा होउझी हैं, जिन्हें 2019 में 10 साल की जेल की सज़ा के बाद रिहा किया गया था। कई अन्य प्रमुख वामपन्थी कार्यकर्ताओं को गिरफ़्तार किया गया है। ज़्यादातर 30 वर्ष से कम उम्र के हैं। बहुत से अन्य एक्टिविस्टों को पूछताछ के बाद छोड़ा गया है।

चीन के नये शासकों की पूँजीवादी राह के आलोचकों और देश को फिर से समाजवाद की राह पर ले जाने की वकालत करने वाले कार्यकर्ताओं के दमन का सिलसिला पुराना है। दिसम्बर 2014 में झेङझाऊ में चार माओवादियों पर ऐसे पर्चे बाँटने के लिए मुक़दमा चलाया गया जिनमें चीन में पूँजीवाद की पुनर्स्थापना की आलोचना की गयी थी और "समाजवादी राह" पर वापसी का आह्वान किया गया था। ये पर्चे माओ त्से-तुङ की 28वीं बरसी पर एक सार्वजनिक पार्क में बाँटे गये थे। दो प्रतिवादियों, झांग झेंगयाओ (56) और झांग रुक्वान (69) को अवमानना का दोषी मानकर तीन वर्ष क़ैद की सज़ा सुनायी गयी। ल्यू ज़ियाबाओ और यू जी जैसे लिबरल लेखकों की थोड़े समय के लिए गिरफ़्तारी पर दुनियाभर में निन्दा होती है, लेकिन माओकालीन चीन की क्रान्तिकारी विरासत की बात उठाने वालों के और भी कठोर दमन पर बुर्जुआ मीडिया चुप साध जाता है।

26 दिसम्बर 2018 को चीन के प्रतिष्ठित बीजिंग विश्वविद्यालय में मार्क्सिस्ट सोसायटी के प्रमुख क्यू झानचुआन को अगवा कर लिया गया और वह लम्बे समय तक लापता रहे। क्यू का अपहरण उससे पिछले महीनों में अनेक मार्क्सवादी छात्र नेताओं के लापता होने की ही एक कड़ी थी। क्यू माओ त्से-तुङ के 125वें जन्मदिवस के मौक़े पर आयोजित एक समारोह में भाग लेने जा रहे थे जब सादे कपड़ों में आठ लोगों ने उन्हें पकड़कर एक कार में ठूँस दिया और कहीं ले गये। इस घटना से पहले क्यू चीनी मज़दूरों के आन्दोलनों के पक्ष में आवाज़ उठा रहे थे और माओ का जन्मदिवस मनाने का आह्वान किया था।

इससे पहले, सितम्बर 2018 में छात्रों द्वारा चलायी जा रही एक मार्क्सिस्ट सोसायटी ने सोशल मीडिया पर घोषणा की थी कि अधिकारियों के दबाव में उसे बन्द करना पड़ रहा है। अगले ही दिन, नानजिङ विश्वविद्यालय में युवा मार्क्सवादियों के एक समूह ने कहा कि उनके सामने भी तरह-तरह की दिक़्क़तें खड़ी की जा रही हैं। बीजिङ के एक और विश्वविद्यालय में एक मार्क्सिस्ट सोसायटी ने कहा कि उसे भी परेशान किया जा रहा है। नवम्बर 2018 में बीजिंग युनिवर्सिटी के पूर्व छात्र झाङ युनफुन को ग्वाङझाऊ शहर के एक विश्वविद्यालय में उसके द्वारा आयोजित मार्क्सवादी अध्ययन सत्र के बीच से ही गिरफ़्तार कर लिया गया। सार्वजनिक व्यवस्था भंग करने के आरोप में उसे छह महीने की जेल की सज़ा सुनायी गयी।

2018-19 में चीन के विभिन्न स्थानों पर कम से कम 10 युवा मार्क्सवादी कार्यकर्ताओं को गिरफ़्तार किया गया। महज़ पर्चे बाँटने पर भी लोगों को पीटा और गिरफ़्तार किया जा सकता है। कई छात्रों का कहना है कि पूरा बीजिङ विश्वविद्यालय जैसे श्वेत आतंक के साये में है। नवम्बर 2018 में बीजिङ विश्वविद्यालय प्रशासन ने कहा कि उसने कैम्पस की मार्क्सिस्ट सोसायटी के भीतर एक "अवैध संगठन" का पता लगाकर उसे ख़त्म कर दिया है। प्रशासन ने कहा कि इस ग्रुप का मक़सद राज्यसत्ता के विरुद्ध षड्यंत्र करना था।

दरअसल, 1976 में चीन में हुई पूँजीवाद की पुनर्स्थापना के बाद से ही वहाँ के शासक चीन में क्रान्तिकारी मार्क्सवाद और माओ की क्रान्तिकारी विरासत के पुनरुत्थान की सम्भावना से भयाक्रान्त रहे हैं। हाल के वर्षों में एक ओर चीन एक नयी साम्राज्यवादी शक्ति के रूप में उभर रहा है, दूसरी ओर चीन में दुनिया का सबसे विशाल औद्योगिक सर्वहारा वर्ग तैयार हुआ है जिसकी राजनीतिक चेतना और जुझारूपन लगातार बढ़ रहे हैं। बढ़ती ग़ैर-बराबरी, शोषण-दमन, ग़रीबी, बेरोज़गारी और अमीरों की कुत्सित ऐयाशियों के रूप में "बाज़ार समाजवाद" की असलियत जैसे-जैसे लोगों के सामने आती जा रही है, वैसे-वैसे चीन के छात्रों-युवाओं में क्रान्तिकारी मार्क्सवाद को जानने-समझने और उसे मज़दूरों के बीच लेकर जाने के प्रयासों में भी तेज़ी आ रही है। इस बात से चीन के नये शासक ख़ौफ़ज़दा हैं और ऐसी तमाम कोशिशों को कुचल देने पर आमादा हैं।

2018 में अनेक विश्वविद्यालयों के सैकड़ों छात्रों ने उन मज़दूरों के साथ एकजुटता ज़ाहिर की थी जिन्होंने औद्योगिक नगर शेनझेन में अपनी फ़ैक्टरी में यूनियन बनाने की कोशिश की थी। उनकी मदद करने के लिए शेनझेन पहुँचे अनेक छात्रों को गिरफ़्तार कर लिया गया था। इनमें से कई ऐसे थे जो विभिन्न मार्क्सवादी अध्ययन मण्डलों से जुड़े थे। बीजिङ विश्वविद्यालय की मार्क्सिस्ट सोसायटी की ओर से सोशल मीडिया पर एक पोस्ट में इशारा किया गया था कि उन पर होने वाले दमन का सम्बन्ध शेनझेन की घटनाओं से था।

इसकी शुरुआत जून 2018 में दक्षिणी चीन में तब हुई जब शेनझेन के जेसिक टेक्नोलॉजी कारख़ाने के मज़दूरों ने यूनियन बनाने की शुरुआत की। सरकार ने उन्हें इजाज़त देने से मना कर दिया लेकिन मज़दूर आवेदन करते रहे। जुलाई में, दर्जनों मज़दूरों को पुलिस ने गिरफ़्तार कर लिया और कई मज़दूरों को सिक्योरिटी गार्डों ने बुरी तरह पीटा। जुलाई के अन्तिम सप्ताह में, ख़ुद को माओवादी बताने वाले वामपन्थी छात्रों का एक समूह देश के अलग-अलग हिस्सों से यात्रा करते हुए मज़दूरों के विरोध प्रदर्शनों में शामिल होने के लिए पहुँचा। इस घटना ने पूरे देश का ध्यान खींचा। बीजिङ विश्वविद्यालय के एक छात्र, युई जिन ने चीन के तमाम विश्वविद्यालयों के छात्रों के नाम जारी खुले पत्र में मज़दूरों का साथ देने और एक याचिका पर दस्तख़त करने का आह्वान किया। इन विरोध प्रदर्शनों में जनता की दिलचस्पी बढ़ते देख सरकार फ़ौरन इसके दमन पर उतर आयी। अगले कुछ महीनों के दौरान युई सहित कई छात्रों को अज्ञात लोगों द्वारा अगवा कर लिया गया।

दमन के बावजूद सोशल मीडिया और सड़कों पर लोगों के व्यापक समर्थन को देखते हुए सरकार और विश्वविद्यालय प्रशासनों को क़दम कुछ पीछे हटाने पड़े हैं। लेकिन मार्क्सवाद का अध्ययन करने वाले समूहों पर कड़ी नज़र रखी जा रही है। चीन की शासक नक़ली कम्युनिस्ट पार्टी सच्चे मार्क्सवादियों से डरी हुई है। उसका डर वाजिब भी है। उसके नेता पार्टी की क्रान्तिकारी विरासत को तो भूल ही गये हैं लेकिन उन्हें यह बात ज़रूर याद होगी कि जब कुछ मार्क्सवादियों ने एक शताब्दी पहले पीकिङ विश्वविद्यालय में एक अध्ययन मण्डल शुरू किया था तो उसमें आने वाले युवाओं में से एक का नाम था **माओ त्से-तुङ**।

भारत में कम्युनिस्ट आन्दोलन की सफलता-असफलता को लेकर कुछ ज़रूरी बातें

– कविता कृष्णपल्लवी

फ़ेसबुक आदि पर होने वाली चर्चाओं में और समाज में आम तौर पर अक्सर भारत में कम्युनिस्ट आन्दोलन की विफलता को लेकर तरह-तरह की बातें की जाती हैं। कुछ लोग इस तरह की बातें करते हैं कि देश में वामपन्थी आन्दोलन के सौ साल हो गये पर अब भी पूँजीवाद का ही हर ओर बोलबाला है। 'क्रान्तिकारी' लोग पता नहीं कब जनता के रक्षक की भूमिका में उतरेंगे। अब तो फ़ासीवाद भी आ गया लेकिन कम्युनिस्ट कोई देशव्यापी आन्दोलन नहीं खड़ा कर पा रहे हैं।

कुछ लोग तो इन हालात के लिए जनता को ही दोष देते हुए इस तरह की बातें करने लगते हैं कि जनता भौतिक चकाचौंध में ख़ुद ही वाम को छोड़ चुकी है। लोग अपनी समस्याओं का समाधान तो चाहते हैं पर इसके लिए संघर्ष में ख़ुद भागीदारी करने को तैयार नहीं हैं, न संघर्ष करने वालों को सहयोग करने को तैयार हैं। इसी वजह से वाम कार्यकर्ता भी कुछ समझ नहीं पाते कि क्या करें।

कुछ लोग कहते हैं कि कम्युनिस्ट पार्टियों का नेतृत्व नौकरशाहाना और आरामपसन्द हो गया है, उनमें पार्टी की कमियों पर बात नहीं होती और विचार-विमर्श नहीं होता, चापलूसी और बड़बोलापन जैसी प्रवृत्तियाँ घर कर गयी हैं। इन्हीं वजहों से आज इन पार्टियों की ऐसी हालत है। कुछ लोग जाति व्यवस्था को न समझ पाने को ही भारत में कम्युनिस्ट आन्दोलन की असफलता का कारण बता देते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि कम्युनिस्टों को एक-दूसरे की आलोचना नहीं करनी चाहिए क्योंकि आज एकता ही सबसे बड़ी ज़रूरत है।

ऐसे ही कुछ सवालों को लेकर फ़ेसबुक पर चले संवाद में हस्तक्षेप करते हुए मैंने कुछ बातें कही थीं। मुझे लगता है कि इस पर और चर्चा होनी चाहिए, इसलिए उन बातों को 'मज़दूर बिगुल' के पाठकों के लिए यहाँ सिलसिलेवार और नुक़्तेवार ढंग से रख रही हूँ।

(1) समस्या यह है कि जितनी भी संशोधनवादी पार्टियाँ हैं, वे अपने को कम्युनिस्ट पार्टियाँ ही कहती हैं, मार्क्स-एंगेल्स-लेनिन की तस्वीरें भी टाँगती हैं (कुछ स्तालिन और माओ की भी टाँगती हैं और कुछ नहीं टाँगती हैं) और हँसिया-हथौड़े वाला लाल झण्डा भी फहराती हैं। लेनिन ने संशोधनवाद की स्पष्ट परिभाषा दी थी कि उसका खोल कम्युनिस्ट होता है और अन्तर्वस्तु बुर्जुआ होती है। आम लोग मार्क्सवादी विज्ञान से अपरिचय के नाते जेनुइन और नक़ली, यानी संशोधनवादी पार्टी के बीच भेद नहीं कर पाते और 'कम्युनिस्ट' और 'वाम' शब्द का इस्तेमाल एक सामान्य शब्द (जेनरिक टर्म) की तरह करते हैं। एक सही कम्युनिस्ट पार्टी जब विचारधारात्मक विच्युति और विचलन से गुज़रकर क्रान्तिकारी अवस्थिति से ही प्रस्थान कर जाती है, तो उस मोड़-बिन्दु को आम लोग और कम समझ के पार्टी-कार्यकर्ता समझ नहीं पाते। वे पार्टी के क्रान्तिकारी चरित्र के बारे में व्यवहारवादी (प्रैग्मेटिस्ट) और अनुभववादी (एम्पीरिसिस्ट) तरीक़े से सोचते हैं और भाववादी तरीक़े से मानते हैं कि नेतृत्व ग़लती नहीं कर सकता।

बुर्जुआ राजनीति करने वाली संशोधनवादी पार्टी जब सुधारों, राहतों और वाजिब माँगों को लेकर लड़ती है और सरकार में शामिल होकर सुधार के कुछ क़दम उठाती है तथा राहत देने वाले कुछ फ़ैसले लेती है तो पार्टी कार्यकर्ता और आम लोग समझते हैं कि इसी तरह राहत और सुधार के काम करते-करते पार्टी देश को एक दिन समाजवाद की मंज़िल तक पहुँचा देगी। जब नक़ली, यानी संशोधनवादी पार्टियाँ बुर्जुआ संसदीय राजनीति में पूरी तरह व्यवस्थित और अनुकूलित हो जाती हैं, तो बुर्जुआ अर्थनीति और राजनीति के साथ उनका भी पतन होता चला जाता है। जब इन पार्टियों का बाह्य रूप और व्यवहार भी इनकी बुर्जुआ अन्तर्वस्तु से पूरी तरह मेल खाने लगता है तो आम लोग और पार्टी कार्यकर्ता निराश होकर कहने लगते हैं कि "यह पार्टी भी अब पतित, भ्रष्ट, अयोग्य या लक्ष्य से दूर हो गयी है, या, हो रही है।" तब भी लोग इस बात को नहीं समझ पाते कि बुर्जुआ चरित्र में ढल चुकी इस संशोधनवादी, या सोशल-डेमोक्रेट, या नक़ली कम्युनिस्ट पार्टी को फिर से जेनुइन कम्युनिस्ट पार्टी नहीं बनाया जा सकता, बल्कि नये क्रान्तिकारी केन्द्र का निर्माण और गठन ही एकमात्र विकल्प हो सकता है! वे सोचते हैं कि नेतृत्व अगर काहिलीभरा और सुविधाभोगी जीवन छोड़ दे, या नेतृत्व में अगर कुछ ईमानदार लोग आ जायें, या सभी कम्युनिस्ट अगर एक हो जायें तो सारी समस्याएँ हल हो जायेंगी! (वे समझते हैं कि कम्युनिस्टों में फूट उनके अहं के कारण है, न कि किसी विचारधारात्मक-राजनीतिक मतभेद के कारण!)

(2) मार्क्सवाद-लेनिनवाद की बुनियादी शिक्षा यह है कि अब तक किसी भी शोषक-शासक वर्ग ने शान्तिपूर्वक शोषित-उत्पीड़ित वर्गों को न तो सत्ता सौंपी है और न ही आगे ऐसा सम्भव है। हर राज्यसत्ता शासक वर्गों का अधिनायकत्व होती है, और राज्यसत्ता की बनी-बनायी मशीनरी का ध्वंस करके ही संघर्षरत वर्ग अपनी राज्यसत्ता, यानी अपने वर्गीय अधिनायकत्व की स्थापना करता है। हर क़िस्म का बुर्जुआ लोकतंत्र बुर्जुआ वर्ग का अधिनायकत्व, यानी बुर्जुआ राज्यसत्ता का कोई न कोई रूप होता है और सर्वहारा वर्ग की हरावल पार्टी, यानी कम्युनिस्ट पार्टी का अन्तिम लक्ष्य होता है कि वह बुर्जुआ राज्यसत्ता का बलात् ध्वंस करके सर्वहारा राज्यसत्ता की स्थापना की ऐतिहासिक मुहिम में मेहनतकश जन-समुदाय को नेतृत्व दे। इस अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचने के लिए कम्युनिस्ट मज़दूरों और सभी क्रान्ति-पक्षधर वर्गों के जन-संगठन बनाते हैं, आर्थिक सुधारों-माँगों-रियायतों के लिए लड़ते हुए जनता की जुझारू संगठनबद्धता को बढ़ाते हैं, रूढ़ियों से मुक्ति और वर्ग-चेतना को प्रखर बनाने के लिए सतत् सामाजिक आन्दोलन करते हैं और सांस्कृतिक कार्य करते हैं। और सिर्फ़ इतना ही नहीं, बुर्जुआ जनवाद का रणकौशलात्मक (टैक्टिकल) इस्तेमाल करने के लिए वे बुर्जुआ संसदीय चुनावों, विधायिकाओं और मुमकिन होने पर, सरकारों में भी भागीदारी करते हैं।

टैक्टिकल इस्तेमाल का मतलब है चुनाव लड़ते हुए और संसद में हिस्सा लेते हुए सच्चे कम्युनिस्ट निरन्तर जनता के बीच इस व्यवस्था के असली चरित्र और सीमाओं का एक्सपोज़र करते हैं और उसके सामने क्रान्ति और समाजवाद की अपरिहार्यता को स्पष्ट करते हैं। जो लोग सिर्फ़ आर्थिक सुधारों-रियायतों की लड़ाई लड़ते हैं और मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षा और राजनीतिक मुद्दों पर संघर्ष का काम नहीं करते, वे लोगों में यह विभ्रम पैदा करते हैं कि आर्थिक सुधारों, रियायतों के लिए लड़ते-लड़ते ही हम समाजवाद तक पहुँच जायेंगे। ऐसे लोग अर्थवादी कहलाते हैं। इसी तरह सुधारवादी भी जनता को क्रान्ति और समाजवाद के लक्ष्य और संघर्ष की शिक्षा नहीं देते और यह भ्रम पैदा करते हैं कि सामाजिक-राजनीतिक सुधार करते-करते ही हम समाजवाद तक पहुँच जायेंगे, बलात् राज्यसत्ता-ध्वंस की कोई ज़रूरत ही नहीं होगी।

जो कम्युनिस्ट चुनावों और संसद आदि का टैक्टिकल नहीं बल्कि रणनीतिक (स्ट्रैटेजिक) इस्तेमाल करते हैं, यानी लोगों में यह भ्रम फैलाते हैं कि इसी राज्यसत्ता के रहते वे अगर सरकार में आ गये तो धीरे-धीरे समाजवाद ला देंगे, वे संसदीय जड़वामन "कम्युनिस्ट" होते हैं, इन्हें संशोधनवादी कहते हैं। यानी संशोधनवादी राज्यसत्ता के प्रश्न की मार्क्सवादी समझ को विकृत बनाकर जन-समुदाय को ठगने का काम करते हैं। जो संशोधनवादी होते हैं, वे अनिवार्यतः अर्थवादी और सुधारवादी भी होते ही हैं। बुर्जुआ राज्यसत्ता बुर्जुआ वर्ग के शासन और दमन का केन्द्रीय उपकरण है! इसका भी मुख्य अंग सशस्त्र बलों का तंत्र है। पूरी व्यवस्था के रोज़मर्रा के काम नौकरशाही करती है। सरकारें पूँजीपतियों की मैनेजिंग कमेटी होती हैं और विधायिका सरकार द्वारा पेश बिलों को पास करके उन्हें क़ानून का रूप देने की औपचारिकता निभाती है। संशोधनवादी ऐसा दिखाते हैं मानो सरकार ही राज्यसत्ता हो और वे चुनाव जीतकर सरकार में आ गये तो धीरे-धीरे समाजवाद ला देंगे। यह संशोधनवादी कचरा क्रान्तिकारी जुमलों के बरतन में रखकर बर्नस्टीन, काउत्स्की आदि पहले भी प्रस्तुत कर चुके थे, पर ख्रुश्चेव ने "शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व-शान्तिपूर्ण प्रतिस्पर्द्धा-शान्तिपूर्ण संक्रमण" के सिद्धान्त के रूप में इसे सबसे परिष्कृत ढंग से प्रस्तुत किया। दुनिया की थोड़ी नरम या थोड़ी गरम, थोड़ी ढँकी या अधनंगी या पूरी तरह नंगी – जितनी भी संसदमार्गी या संशोधनवादी पार्टियाँ हैं, उनका आदि-कुलगुरु ख्रुश्चेव ही है। अब आगे उसमें एक नाम 'चीनी ख्रुश्चेव' देङ सियाओ-पिङ का भी जुड़ चुका है।

(3) लेनिन का कहना था कि मज़दूर वर्ग की जिस पार्टी का लक्ष्य अन्ततोगत्वा बलात् बुर्जुआ राज्यसत्ता का ध्वंस करना होगा, वह 'मास मेम्बरशिप' वाली जन-पार्टी नहीं हो सकती, वह अपने कार्यक्रम और संविधान को मानने वाले सभी आंशिक सक्रिय लोगों, हमदर्दों और समर्थकों को सदस्यता नहीं दे सकती। वह फ़ौलादी अनुशासन वाली कैडर-पार्टी होगी, जिसका मेरुदण्ड पेशेवर क्रान्तिकारियों (होलटाइमरों) का कोर-ग्रुप होगा और सदस्यता दायरा केवल पार्टी के किसी मोर्चे पर सक्रिय एक्टिविस्ट साथियों तक ही हो सकता है। उन्होंने यह भी कहा कि ज़्यादा से ज़्यादा खुले बुर्जुआ जनवादी माहौल में काम करते हुए भी, चुनाव में हिस्सा लेते हुए भी, कोई क्रान्तिकारी पार्टी पूरी तरह खुली नहीं हो सकती, उसका ढाँचा, कार्य-प्रणाली और सदस्यता एवं कमेटी ढाँचा खुला नहीं हो सकता। सांगठनिक ढाँचे और कार्य-प्रणाली के सवाल पर मेंशेविकों से, और आगे चलकर यूरोप की काउत्स्कीपन्थी पार्टियों से बोल्शेविकों का यही बुनियादी अन्तर था।

(4) राज्यसत्ता और संसदीय चुनाव आदि के प्रश्न पर मार्क्सवाद-लेनिनवाद की बुनियादी अवस्थितियों को लेनिन की रचनाओं 'राज्य और क्रान्ति', 'राज्यसत्ता क्या है', 'मार्क्सवाद और संशोधनवाद', 'सर्वहारा क्रान्ति और ग़द्दार काउत्स्की' आदि पढ़कर तथा 'महान बहस' (ख्रुश्चेव के साथ चीनी पार्टी की बहस) के दस्तावेज़ों को पढ़कर भली-भाँति समझा जा सकता है। सांगठनिक सवाल पर एक सच्ची कम्युनिस्ट पार्टी के ढाँचे और कार्य-प्रणाली को लेनिन की रचनाएँ – 'एक क़दम आगे दो क़दम पीछे' और 'क्या करें' पढ़कर जाना जा सकता है। कोमिन्टर्न के अधिवेशन में लेनिन द्वारा प्रस्तुत दस्तावेज़ 'कम्युनिस्ट पार्टी का संगठन और ढाँचा' और चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की पुस्तक 'पार्टी की बुनियादी समझदारी' भी ज़रूर पढ़ी जानी चाहिए !

(5) इस बेहद संक्षिप्त सैद्धान्तिक पूर्व-पीठिका के बाद, आइए, भारत के कम्युनिस्ट आन्दोलन पर एक सरसरी नज़र डाली जाये।

(क) एक पिछड़े और ग़ुलाम देश में जन्म लेने के कारण भारत का कम्युनिस्ट आन्दोलन अपने जन्मकाल से ही विचारधारात्मक रूप से बेहद कमज़ोर था। अपने देश की ठोस परिस्थितियों के विश्लेषण के लिए भी यह अन्तरराष्ट्रीय नेतृत्व का मुँह जोहता था। महत्वपूर्ण ऐतिहासिक मोड़-बिन्दुओं पर भारत के कम्युनिस्ट नेतृत्व ने या तो निर्णय लेने में देर की, या फिर ग़लत निर्णय लिये। पार्टी का ढाँचा शुरू से ही ढीला-पोला था। लेकिन तमाम कमज़ोरियों-ग़लतियों के बावजूद यह 1951 तक सर्वहारा वर्ग की ही पार्टी थी। नेतृत्व ने नीतिगत ग़लतियाँ कीं, पर क़तारों ने बहादुराना संघर्ष किये और बेमिसाल क़ुर्बानियाँ दीं। ग़लतियों और भटकावों के परिमाणात्मक विकास के सिलसिले ने 1951 में एक गुणात्मक छलाँग तब ली जब तेलंगाना संघर्ष की पराजय के बाद पार्टी-नेतृत्व ने नेहरू सरकार के सामने पूरी तरह से आत्म-समर्पण कर दिया। पूरा पार्टी ढाँचा, सदस्यता, कमेटी-व्यवस्था, हेडक्वार्टर आदि को पूरी तरह से खुला कर दिया गया, पार्टी-सदस्यता यूनियनों की चवन्निया मेम्बरी की तरह बँटने लगी और पार्टी का परम लक्ष्य चुनाव लड़कर संसद में बैठना भर रह गया। सोवियत संघ में ख्रुश्चेव जब संशोधनवाद की लहर लेकर आया तो 1958 में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की अमृतसर स्पेशल कांग्रेस में उसे सर्वसम्मति से स्वीकार किया गया! अब पार्टी के भीतर नेतृत्व के एक हिस्से का कहना था कि सत्तारूढ़ प्रगतिशील बुर्जुआ के प्रतिनिधि नेहरू राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति (यानी साम्राज्यवाद-सामन्तवाद विरोधी कार्यभार) को पूरा करने का काम कर रहे हैं, अतः हमें उनका समर्थन करना चाहिए। दूसरे धड़े का कहना था कि नेहरू के नेतृत्व में बड़ी बुर्जुआज़ी अपने वायदों से विश्वासघात कर रही है, अतः हमें मज़दूरों-किसानों और मध्य वर्ग के साथ रैडिकल छोटी बुर्जुआज़ी को लेकर लोक जनवादी क्रान्ति के लिए संघर्ष करना होगा। लेकिन व्यवहारतः इस धड़े ने भी कुछ रुटीनी ट्रेड यूनियन संघर्षों, आन्दोलनों और चुनावी सरगर्मियों के अतिरिक्त पार्टी के बोल्शेविकीकरण के लिए कुछ करना तो दूर, कोई आवाज़ तक नहीं उठायी। यानी मतभेद मात्र इतना था कि नरमपन्थी संशोधनवादी सीधे नेहरू सरकार की गोद में बैठ जाना चाहते थे, जबकि "गरमपन्थी" संशोधनवादी बुर्जुआ संसद में एक ज़िम्मेदार विपक्ष और 'प्रेशर-ब्लॉक' की भूमिका निभाना चाहते थे।

(ख) 1964 में भाकपा से अलग होकर जब माकपा बनी तो उसने भाकपा को संशोधनवादी कहा, पर ख़ुद उसने पार्टी-सदस्यता और ढाँचे के बोल्शेविक उसूलों में आयी ढिलाई को दुरुस्त करने के लिए कोई क़दम नहीं उठाया। पूरी पार्टी का ढाँचा यथावत खुला रहा। 1958 की अमृतसर कांग्रेस में पार्टी-संविधान की प्रस्तावना व अन्य हिस्सों में ख्रुश्चेवी लाइन के हिसाब से जो बदलाव किये गये थे, उन्हें ठीक नहीं किया गया। यही नहीं, 1963 से चीन की पार्टी ख्रुश्चेवी संशोधनवाद के विरुद्ध जो वैचारिक संघर्ष चला रही थी, उसमें माकपा ने पोज़ीशन लेने की जगह बीच-बीच का रास्ता चुना। आगे चलकर वह सोवियत पार्टी के प्रति ज़्यादा से ज़्यादा नरम हो गयी और चीनी पार्टी की पोज़ीशन के प्रति ज़्यादा से ज़्यादा आलोचनात्मक

(पेज 14 पर जारी)

भारत में कम्युनिस्ट आन्दोलन की सफलता-असफलता को लेकर कुछ ज़रूरी बातें

(पेज 13 से आगे)

होती चली गयी। और फिर 1976 में माओ की मृत्यु के बाद चीन में जब पूँजीवाद की पुनर्स्थापना हो गयी, तो माकपा ने देङ सियाओ-पिङ के सुर में सुर मिलाते हुए माओ पर हमले करना शुरू कर दिया और देङ और उसके चेलों के "बाज़ार-समाजवाद" की पुरज़ोर समर्थक हो गयी। क्रान्तिकारी क़तारों की आँखों में धूल झोंकने के लिए माकपा ने अपनी स्थापना के दिनों में कहा था कि वह "जन-संघर्षों की मदद के लिए संक्रमणकालिक सरकारें" चलायेगी। इस तरह वह कहना चाहती थी कि वह चुनावों और संसद-विधानसभाओं का 'टैक्टिकल' इस्तेमाल' कर रही है, पर पूरी पार्टी दरअसल एक पूर्णतः खुली 'जन-पार्टी' (न कि कैडर पार्टी) के रूप में सिर्फ़ और सिर्फ़ चुनाव ही लड़ती रही और ट्रेड-यूनियन स्तर के कुछ आन्दोलन करती रही।

"जन-संघर्षों की मदद" माकपा नेतृत्व वाली प. बंगाल की सरकारों ने आगे चलकर इस हद तक की कि नन्दीग्राम, सिंगुर और लालगढ़ में बर्बर दमन करने तक पहुँच गयी। ज्योति बसु ने बर्गा-पंजीकरण के रूप में भूमि-सुधार का जो काम किया वह तात्कालिक तौर पर प्रगतिशील होते हुए भी रैडिकल भूमि-सुधार न होकर कुछ वैसा ही था जिसे लेनिन ने 'प्रशियाई मार्ग' की संज्ञा दी थी। आगे चलकर इन्हीं बुर्जुआ भूमि-सुधारों की बदौलत मालिक किसानों का जो वर्ग फला-फूला, उसने अपनी दलीय वफ़ादारी बदल दी और अर्द्ध-फ़ासीवादी तृणमूल का सामाजिक आधार बन गया। नव-उदारवाद का रैडिकल विरोध करने और उसके एकमात्र विकल्प के तौर पर समाजवाद को प्रस्तुत करने की जगह जब माकपा और उसके सहयोगियों ने "मानवीय चेहरे वाले नवउदारवाद" (अमर्त्य सेन ब्राण्ड) की बात की और मात्र कुछ नेहरूकालीन कीन्सवादी नुस्ख़ों तक वापसी को ही अपना "समाजवाद" बना लिया तो संगठित मज़दूरों और मध्य वर्ग के बीच मौजूद इसका सामाजिक आधार भी कमज़ोर पड़ गया। असंगठित मज़दूरों में तो पहले भी इसकी पकड़ कमज़ोर थी जो बाद में समाप्तप्राय हो गयी। पार्टी-नेतृत्व में ऊपर उच्च-मध्यवर्गीय कुलीनता घर कर गयी और नीचे तथा मध्यवर्ती नेतृत्व के संस्तरों पर भ्रष्ट, गुण्डे टाइप नौकरशाहों की भरमार हो गयी। इससे ग़रीबों में मौजूद पार्टी का वोट बैंक भी तेज़ी से सिकुड़ता चला गया।

(ग) बहुत सारे ईमानदार पार्टी-कैडर भी पार्टी की राजनीतिक संस्कृति में आये पतन को ही रोग की जड़ समझते हैं, जबकि यह मूल रोग का एक लक्षण और अभिव्यक्ति मात्र है। कोई भी पार्टी जब संशोधनवाद के रास्ते पर चलती है तो उसके चरित्र और व्यवहार में उसका पतन तुरन्त परिलक्षित नहीं होता। इसमें समय लगता है। मार्क्सवादी विज्ञान का जानकार पार्टी के पतन की शुरुआत वहीं से मान लेता है जब पार्टी विचारधारात्मक स्तर पर विपथ-गमन कर जाती है, यानी, वह वर्ग-संघर्ष और सर्वहारा अधिनायकत्व को छोड़कर (भले ही ज़ुबानी इनकी दुहाई देती रहे) शान्तिपूर्ण संक्रमण और चुनावों से सरकार बनाकर "समाजवाद लाने" के रास्ते पर चल पड़ती है और ख़ुद को एक ढीली-पोली, संसदीय, पूरी तरह से खुली, मास-पार्टी में तब्दील कर लेती है। समझना इस बात को होगा कि राजनीतिक चरित्र की पतनशीलता एकदम नग्न होने के दशकों पहले से ही भाकपा, माकपा, फ़ॉरवर्ड ब्लॉक, आर.एस.पी., एस.यू.सी.आई. आदि पार्टियाँ विचारधारात्मक रूप से संशोधनवादी हो चुकी थीं और कुछ तो अपने जन्मकाल से ही ऐसी ही थीं। 1981 के बाद इनकी क़तार में भाकपा (मा-ले) लिबरेशन भी आकर शामिल हो गयी जो आज सबसे गन्दे और शातिराना क़िस्म के दक्षिणपन्थी अवसरवाद का प्रदर्शन कर रही है।

(घ) 1964 में माकपा के गठन के तुरन्त बाद, 1965-66 से ही माकपा के भीतर के कुछ कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी तत्वों ने एक नया कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी केन्द्र बनाने की कोशिशें शुरू कर दी थीं। 1967 के नक्सलबाड़ी किसान जन-उभार से इस प्रक्रिया को नया संवेग मिला। 1968 में 'कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों की अखिल भारतीय तालमेल कमेटी' का गठन एक महत्वपूर्ण क़दम था। पर 1970 में भाकपा (मा-ले) के अस्तित्व में आने के पहले ही चारू मजुमदार ने इस महत्वपूर्ण पहल को "वामपन्थी" दुस्साहसवाद और कठमुल्लावाद के गड्ढे में धकेल दिया और गठन से पहले ही फूट-दर-फूट की प्रक्रिया शुरू हो गयी जो आजतक जारी है। इसी मा-ले धारा से निकली हुई भाकपा (माओवादी) आज "वामपन्थी" दुस्साहसवाद और सैन्यवाद की लाइन को लागू कर रही है और क्रान्तिकारी धारा के अग्रवर्ती विकास को गम्भीर क्षति पहुँचा रही है। नक्सलबाड़ी किसान-उभार से निकले कई कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी संगठन आज अपने कठमुल्लावाद के चलते विसर्जित हो चुके हैं, कुछ मज़दूरों की राजनीति की जगह किसानों की वर्गीय पोज़ीशन पर खड़े होकर राजनीति करते हुए नरोदवादी टाइप बन गये हैं। कुछ 'आइडेण्टिटी पॉलिटिक्स' और अम्बेडकरवाद के साथ हनीमून मना रहे हैं और कुछ "मुक्त चिन्तक" बन चुके हैं।

इसी धारा से छिटके कुछ संगठन विचारधारा के प्रश्न और समाजवाद की समस्याओं को संजीदगी से समझने की कोशिश कर रहे हैं, भूमण्डलीकरण के दौर के साम्राज्यवाद और भारत में पूँजीवाद के विकास का सूक्ष्म और व्यापक अध्ययन कर रहे हैं और आज के दौर की सर्वहारा क्रान्ति की लाइन को विकसित कर रहे हैं, शहरों और गाँवों के मज़दूर वर्ग के बीच ज़मीनी काम कर रहे हैं, तथा बोल्शेविक ढंग से संगठन खड़ा करने की चुनौतियों से जूझ रहे हैं। लेकिन सिर्फ़ ऐसे ही संगठनों की एकता से एक अखिल भारतीय क्रान्तिकारी पार्टी का गठन नहीं हो जायेगा। अपनी बनती हुई समझ के आधार पर इन शक्तियों को 'व्यवहार-सिद्धान्त-व्यवहार' का एक सघन और सुदीर्घ सिलसिला चलाना होगा, तथा, समाज से बड़े पैमाने पर नयी क्रान्तिकारी भरती करनी होगी। तब जाकर एक नयी क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी अस्तित्व में आ सकती है।

विज्ञान और विगत इतिहास का समाहार हमें यही बताता है। पर इतिहास की इस शिक्षा को और मार्क्सवादी विज्ञान की इस समझ को अमल में उतारने के लिए, निश्चय ही दृढ़ इच्छा-शक्ति की ज़रूरत होगी, फ़ैसलाकुन होने की ज़रूरत होगी!

(इस सवाल के अन्य पहलुओं पर 'मज़दूर बिगुल' के आगामी अंकों में चर्चा जारी रहेगी)

फिर उठ खड़ी होगी चीन में एक सच्ची क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी

(पेज 12 से आगे)

गयीं। वेश्यावृत्ति, नशाख़ोरी, जुआ, बाल मज़दूरी, भुखमरी आदि का नामोनिशान तक मिट गया। तूफ़ानी नदियों को बाँधकर विनाशकारी बाढ़ों को समाप्त कर दिया गया और नहरों का जाल बिछाकर सिंचाई सुविधाओं का तेज़ विस्तार किया गया। उत्पादन-टीमों, ब्रिगेडों और कम्यूनों ने दुर्गम पर्वतीय क्षेत्रों में भी उपजाऊ सीढ़ीदार खेत बना डाले और सभी तरह की ऊसर-बंजर धरती को अन्नपूर्णा बना दिया गया। सड़कों-रेलमार्गों-पुलों का अभूतपूर्व गति से विकास हुआ। 1960 तक चीन बिजली और लोहा सहित तमाम बुनियादी और ढाँचागत उद्योगों का अपना ताना-बाना खड़ा कर चुका था।

भितरघातियों-पूँजीवादी पथगामियों के ख़िलाफ़ संघर्ष और भविष्य की राह की खोज

लेकिन पार्टी के भीतर घुसे भितरघातियों ने शोषण और ग़ैर-बराबरी को जड़ से मिटा देने की इस यात्रा को बीच में ही रोक देने और चीनी समाज को पूँजीवादी राह पर आगे बढ़ाने की साज़िशें शुरू कर दीं। माओ त्से-तुङ के नेतृत्व में कम्युनिस्ट पार्टी के भीतर और चीनी समाज में ऐसे भितरघातियों के ख़िलाफ़ संघर्ष छेड़ दिया गया और व्यापक जनसाधारण को उसमें भागीदार बनाया गया।

अपने देश और अपनी पार्टी के भीतर ऐसे पूँजीवादी पथगामियों से संघर्ष करने के साथ ही माओ ने सोवियत संघ में समाजवाद की पराजय और ख्रुश्चेव के नेतृत्व में नयी पूँजीवादी सत्ता की स्थापना का भी गहन विश्लेषण किया और इसे समझने के बाद उन्होंने रूसी पार्टी के ख़िलाफ़ 'महान बहस' चलाकर विश्व सर्वहारा क्रान्ति के प्रति अपने अन्तरराष्ट्रीयतावादी दायित्वों का तो निर्वाह किया ही, अपने देश में भी समाजवादी क्रान्ति को आगे बढ़ाने के बारे में वे ऐतिहासिक महत्व वाले नतीजों की दिशा में आगे बढ़ चले। इसी का नतीजा थी – 1966 में शुरू हुई महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति जो न केवल चीनी क्रान्ति की यात्रा का बल्कि विश्व सर्वहारा क्रान्ति की यात्रा का अब तक का अग्रतम मील का पत्थर है।

सांस्कृतिक क्रान्ति ने समाजवादी समाज में वर्ग-संघर्ष को जारी रखने की आम दिशा और उसके मार्ग की जो आम रूपरेखा प्रस्तुत की वह पूरी दुनिया के सभी देशों के लिए तबतक प्रासंगिक रहेगी जबतक कि मानवता कम्युनिज़्म की मंज़िल में प्रविष्ट नहीं हो जाती।

सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान इस बात को और अधिक ठोस रूप में स्पष्ट किया गया कि समाजवादी समाज में वर्ग मौजूद रहते हैं और वर्ग-संघर्ष लगातार जटिल और विकट रूप में जारी रहता है। बुर्जुआ वर्ग को धीरे-धीरे आगे बढ़कर फिर से सत्ता हथिया लेने से रोकने के लिए उसपर चौतरफ़ा अधिनायकत्व लागू करना होगा और उसके ख़िलाफ़ क्रान्ति को सतत् जारी रखना होगा। इन तूफ़ानी संघर्षों के दौरान व्यापक जनता सर्वहारा क्रान्तिकारियों की अगुवाई में आगे बढ़कर पार्टी और राज्य के भीतर पनपे बुर्जुआ हेडक्वार्टरों को नष्ट करती रहेगी और आगे के उन्नत स्तर के संघर्ष व समाजवादी निर्माण के लिए पार्टी व राज्य को तैयार करती रहेगी। पूँजीवादी पुनर्स्थापना के भौतिक अधिकार के समूल नाश के लिए बुर्जुआ अधिकारों, भौतिक प्रोत्साहन (लालच देकर काम कराना) और हर तरह की असमानता को कम करते जाना तथा माल-उत्पादन को क्रमश: समाप्त करते जाने के साथ ही माओ ने शिक्षा, संस्कृति, साहित्य, कला, सामाजिक आचार-व्यवहार-संस्था-संस्कार आदि अधिरचना (ऊपरी ढाँचा) के सभी अंगों के सतत् क्रान्तिकारीकरण को अपरिहार्य बताया।

चीन में 1966 से 1976 तक जारी सांस्कृतिक क्रान्ति ने न केवल चीन में समाजवाद के विकास को ऊँची छलांगें दीं, बल्कि पूरी दुनिया के सर्वहारा क्रान्तिकारियों को संशोधनवाद और साम्राज्यवाद से लड़ने के लिए नयी प्रेरणा, नयी युयुत्सा (लड़ने की चाहत), नयी ऊर्जा और नयी दिशा देने का काम किया।

1949 की नवजनवादी क्रान्ति के बाद चीन में समाजवादी क्रान्ति की यात्रा 27 वर्षों तक जारी रही। 1976 में, सांस्कृतिक क्रान्ति के दस वर्षों के युगान्तरकारी प्रयोग के बावजूद, माओ की मृत्यु के बाद वहाँ सर्वहारा क्रान्तिकारी पराजित हो गये और सत्तासीन पूँजीवादी पथगामियों ने समाजवाद की समस्त प्रगति को आधार बनाकर पूँजीवादी विकास को तेज़ गति से आगे बढ़ाया। प्रति व्यक्ति औसत आय, सकल घरेलू उत्पाद, औद्योगिक विकास-दर, पूँजी-निवेश आदि बुर्जुआ मानदण्डों से आज भी चीनी अर्थव्यवस्था दुनिया में सबसे अधिक तेज़ गति से विकसित हो रही है, पर व्यापक मेहनतकश जनता के लिए यह विकास नहीं, विनाश है।

पिछले 35 वर्षों के भीतर चीन में धनी-ग़रीब के बीच की खाई अभूतपूर्व गति से बढ़ी है। बेरोज़गारों की संख्या कई करोड़ हो चुकी है। कम्यूनों को तोड़ दिया गया है। निजी स्वामित्व की अनेक रूपों में बहाली जारी है। विदेशी पूँजी और कचरा संस्कृति के लिए देश के दरवाज़ों को एकदम खोल दिया गया है और चीनी जनता के श्रम से मुनाफ़ा निचोड़कर पश्चिम अपने संकट का बोझ हल्का कर रहा है। आज के चीन में तमाम पुरानी सामाजिक बुराइयाँ वापस लौट आयी हैं, जैसे वेश्यावृत्ति, भीख माँगना, घूसख़ोरी, चोरी, तरह-तरह के भ्रष्टाचार और नारी-विरोधी अपराध। स्त्रियों को आर्थिक-सामाजिक गतिविधियों से अलग करके फिर घर की चारदीवारी में क़ैद किया जा रहा है या उनसे बहुत कम तनख़्वाह में काम कराये जा रहे हैं। ग्रामीण इलाक़ों में कन्या-शिशुओं और भ्रूणों की हत्या बड़े पैमाने पर की जा रही हैं।

चीन में क्रान्ति की इस हार से चीनी जनता और पूरी दुनिया के सर्वहारा वर्ग को एक भारी धक्का तो लगा, पर यह इतिहास का अन्त नहीं है। अक्सर ऐसा होता रहा है कि रास्ता खोजने वाली महान क्रान्तियाँ हारती रही हैं और आगे की मुकम्मिल विजयी क्रान्तियों के लिए आधार तैयार करती रही हैं।

माओ ने कहा था कि चीन में पूँजीवादी राह के राही अगर सत्ता पर क़ब्ज़ा करने में कामयाब भी हो गये तो वे चैन से नहीं बैठ पायेंगे। चीन में मज़दूरों और ग़रीब किसानों के लगातार तेज़ और व्यापक होते संघर्ष इस बात का संकेत दे रहे हैं कि चीन के नये लुटेरे शासकों के चैन के दिन अब लद चुके हैं। वह दिन बहुत दूर नहीं जब चीन में फिर से एक सच्ची क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी उठ खड़ी होगी जो चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की ऐतिहासिक विरासत को आगे बढ़ाते हुए पूँजीवाद को उखाड़ फेंककर कम्युनिज़्म की ओर एक नये लम्बे अभियान में चीनी जनता का नेतृत्व करेगी।

एक मज़दूर परिवार की एक सुबह

– भारत

टिमटिमाती आँखें, सर पर हल्के-हल्के बाल, अपने पैरों को घसीटते हुए बच्चा खड़ा होने की कोशिश कर रहा था। बच्चे ने हरे रंग का कच्छा पहना था और हरी धारीदार टी-शर्ट। उम्र मुश्किल से एक वर्ष होगी। अचानक उसके चेहरे पर हल्की मुस्कान आयी, जैसे उसने कोई नयी तरकीब सोची हो और वह घुटनों के बल आगे बढ़ने लगा। बच्चे की आँखें देखकर पता चल रहा था कि वह अभी थोड़ी देर पहले ही रोकर चुप हुआ है।

आस-पास उससे बड़े तीन बच्चे भी थे। इस समय वही इसके अभिभावक थे। साँवला चेहरा, लम्बे बाल, दुबला शरीर, आँखों में ढेर-सा काजल लगाये आठ साल की एक लड़की घर के दरवाज़े पर बैठी थी। उसकी एक बग़ल में उसके जितना ही लड़का था, जिसकी नाक बार-बार बह रही थी और मैली आस्तीन से वह उसे पोंछ रहा था। उसका मुँह हमेशा खुला रहता था। तीसरी लड़की इन पतले-दुबले बच्चों में थोड़ी बलिष्ठ थी और उसने बालों को दो हिस्से में बाँटकर चुटिया बनायी हुई थी। घर के दरवाज़े की सीढ़ियों पर बैठे तीनों के चेहरे बिल्कुल शान्त थे, जैसे अभी कोई गम्भीर बातचीत ख़त्म करके बैठे हों।

उनके घर के बाहर पतली-सी गली में दोनों तरफ़ नालियाँ भरी पड़ी थीं। गन्दा पानी गली में बह रहा था और बदबू फैली हुई थी। कुछ देर पहले तीनों बच्चे वहीं पकड़म-पकड़ाई खेल रहे थे कि दो चुटिया वाली लड़की की चप्पल टूट गयी और पूरे पैर में कीचड़ लग गया। पैर तो उसने धो लिये पर टूटी चप्पल का क्या करें, ये उनकी समझ नहीं आ रहा था। इसलिए सब शान्त बैठे थे और डरे हुए थे कि शाम को जब माँ लौटेगी तो पिटाई करेगी। इसी चक्कर में वे छोटू को सँभालने की अपनी ज़िम्मेदारी भूल गये और बच्चे ने अपना कच्छा गीला कर दिया। पतली-दुबली लड़की रानी उठी और उसका गीला कपड़ा बदलने के लिए उसे उठाकर कमरे में ले गयी। सोनू और रोशनी, जिसकी चप्पल टूटी थी, का भी ध्यान भटक गया और वह दोनों भी अपनी दोस्त रानी के कमरे में टीवी देखने चले गये।

*

सुबह-सुबह पिंकी हड़बड़ी में उठी क्योंकि उसे देर हो गयी थी। सुबह के आठ बजने वाले थे और अभी तक उसने खाना भी नहीं बनाया था। पिंकी का चेहरा हल्का पीला नज़र आ रहा था, आँखों के नीचे काले घेरे पड़ने लगे थे। पिछले कई दिनों से ठीक से आराम न मिलने की थकान दुबले शरीर और चेहरे पर साफ़ झलक रही थी और अब पूरे दिन तो आराम नहीं मिलने वाला था।

पिंकी को एक पल के लिए यह भी ख़्याल आया कि अभी खाना नहीं बनाये, तो थोड़ा आराम कर सकती है, पर फ़ौरन यह बात दिमाग़ में कौंध गयी कि अगर खाना नहीं बनाया तो छोटू और रानी को दोपहर का खाना नहीं मिल पायेगा और उसे और उसके उसके पति रामलाल को भी बाहर ही खाना पड़ेगा। कुल जमा-जोड़ करके एक सौ तीस के क़रीब ख़र्चा हो जायेगा। सबकुछ तो महँगा ही होता जा रहा है। अभी तो कमरे का किराया भी देना था और कमेटी भी भरनी थी। पिंकी आह भरकर घुटनों पर हाथ रखकर उठी और खाना बनाने में लग गयी।

उसने आटा गूँथा और तवे पर रोटियाँ सेंकने लगी। एक बर्नर वाले चूल्हे की पाइप छोटे पाँच किलो के सिलेण्डर से जुड़ी थी। बारह गज के प्लॉट पर बने घर में एक तरफ़ छोटे से खाट पर रामलाल सो रहा था। क़द-काठी में लम्बा रामलाल इस समय बिल्कुल सिकुड़ के सो रहा था। उसका मुँह बार-बार खुल जा रहा था। उसके शरीर पर बैठी मक्खियों और उसी कमरे में खाना बनने से हो रही गर्मी के कारण वह न तो सो पा रहा था और न ही थकान के कारण जाग पा रहा था। ऊबड़-खाबड़ फ़र्श पर चटाई बिछी थी, जिस पर रानी और छोटू सो रहे थे। इस उमस और गर्मी के कारण उनकी भी नींद उचटने लगी। तभी पिंकी ने आवाज़ दी, "रानी के पापा उठ जाओ! रनिया तू भी उठ जा! जाकर पानी भर ला।"

ऊँघते हुए रामलाल ने पूछा, "टैम क्या हो गया है?"

रोटी बेलते हुए पिंकी बोली, "8:30 हो गये हैं! आधा घण्टा ही बचा है, अभी खाना भी खाना है, नहाना भी है। जल्दी करो, उठ जाओ! अगर आज भी लेट हो गये तो आधी दिहाड़ी ही मिलेगी। कल वह हरामी सुपरवाइज़र बोला था न कि जो लेट आयेगा उसकी ग़लती है, आधे दिन का पैसा नहीं मिलेगा।"

जैसे ही रामलाल ने यह बात सुनी, वह एकदम फुर्ती में आ गया और नहाने के लिए दौड़ा। रोटी बन चुकी थी और पिंकी ने कढ़ाई में सब्ज़ी चढ़ा दी थी, सब्ज़ी ढँक कर पिंकी भी नहाने की तैयारी करने लगी।

नौ बजने में पन्द्रह मिनट बचे थे। रामलाल नहा-धोकर आ गया, कपड़े पहनकर, तैयार हो गया और रोटी नमक के साथ खाने लगा। रानी भी उठ गयी थी और आँखें पोंछते हुए दस लीटर की बाल्टी लिये पानी लेने बाहर चली गयी थी। कमरे के बाहर बरामदा था, जिसमें थोड़ी खुली जगह थी, उसके तीनों किनारों पर किराये के कमरे बने हुए थे और एक साइड पर शौचालय। गेट के बग़ल में ऊपर के कमरों में जाने के लिए सीढ़ियाँ थीं। उसी बरामदे की थोड़ी खुली जगह के बीच में एक नल लगा था, जिसमें सुबह और शाम पानी आता था। सोनू और रोशनी भी रानी जैसी हालत में ही पानी भरने आये हुए थे। एक छोटू ही था जो कोई काम नहीं कर सकता था, इसलिए वह सो रहा था।

पिंकी भी फटाफट नहाकर आ गयी, पर अब खाना खाने का समय नहीं बचा था। उसने तुरन्त अपनी और रामलाल की रोटी बाँध ली और उसे काले कपड़े के चौकोर झोले में डाल लिया। रामलाल भी दो रोटी खाकर तैयार हो चुका था। रामलाल ने पिंकी को टोका, "खाना क्यों नहीं खा रही हो? खाओगी नहीं तो काम कैसे करोगी लंच तक?"

कंघी करते हुए पिंकी ने जवाब दिया, "कोई बात नहीं, दस बजे कम्पनी में चाय आयेगी, तब चाय के साथ दो रोटी खा लूँगी। नाश्ते की रोटी भी मैंने डाल ली है।" रामलाल आश्वस्त हो गया और चप्पल पहनकर कमरे से बाहर निकल गया।

पूरे नौ बज गये थे। आधी बाल्टी पानी लेकर रानी वापस आ गयी थी। पिंकी ने रानी को बताया, "पानी और भी भर लियो, अगर पानी आये तो बड़े ड्रम में भी डाल दियो और छोटू को भी खिला दियो। समझ गयी ना!!" यह बात रानी रोज़ सुनने की आदी हो गयी थी और इसलिए अनमने ढंग से उसने कहा, "हाँ मम्मी भर लूँगी, मैं खिला दूँगी।" चप्पल पहनकर जैसे ही पिंकी निकलने वाली थी, तभी छोटू उठ गया और रोना शुरू कर दिया। जैसे उसे आहट हो गयी हो कि माँ जा रही है। तुरन्त रानी भागी, छोटू को गोद में उठाया और चुप कराने लगी। पिंकी एकदम रुक गयी और रानी को बोली, "छोटू को चुप करा दे, मैं जा रही हूँ।" पर मन ही मन वह बेचैन हो रही थी और सोच रही थी कि छोटू को पहले चुप करा दे। पीछे से पतली-सी आवाज़ ने चिल्लाकर कहा, "जल्दी चलो लेट हो रहा है!" छोटू रोये जा रहा था, उसकी आँखों में आँसू भर-भर गिर रहे थे। रानी उसे चुप नहीं करा पायी और हार मानकर माँ को पकड़ाने लगी। काले झोले को नीचे रखते हुए पिंकी ने छोटू को गोद में लिया और उसे दूध पिलाने लगी। कुछ ही मिनट में छोटू शान्त हो गया और पिंकी ने उसे अपनी बेटी को थमा दिया। उसने झट से झोला उठाया और भागकर कमरे के बाहर चली गयी, जहाँ उसका पति इन्तज़ार कर रहा था। दोनों भागते-भागते बरामदा लाँघकर लॉज से बाहर निकल गये।

माँ-बाप के जाने के बाद रानी ने रोज़ की तरह ही घर की साफ़-सफ़ाई करना शुरू किया। सबसे पहले उसने खाट पर से बिस्तर उठाकर अपने नन्हे-नन्हे हाथों से उसे गेट पर झाड़ा, फिर उसी तरह फैलाकर बिछा दिया। फिर नीचे लेटे छोटू को जो अभी नींद में था, खाट पर लिटा दिया। छोटू की थोड़ी-सी नींद खुली फिर फ़र्श के मुक़ाबले आरामदेह जगह पाकर वह सो गया। उसके बाद रानी खाट के नीचे से झाड़ू उठाकर कमरे में लगाने लगी। चूल्हे पर से बिखरा आटा हटाया, नमक के डिब्बे को सिलेण्डर के बग़ल में खड़ा किया और उसके बग़ल में मसाले के डिब्बे व तेल को रखा। खाट के बग़ल में रखी अटैची पर से धूल हटायी। ऊपर दीवार में लगी पत्थर की पटिया पर टीवी रखा हुआ था। रानी ने खाट पर चढ़कर टीवी से भी धूल साफ़ की और सारा कूड़ा निकालकर बाहर कर दिया।

इतना काम करने के बाद रानी कमरे से बाहर निकली और वहीं उसे सोनू और रोशनी मिल गये। सोनू पहले पास के सरकारी स्कूल में जाता था लेकिन लॉकडाउन के कारण स्कूल बन्द थे। रानी और रोशनी तो पहले भी स्कूल नहीं जाती थीं क्योंकि फिर घर में छोटे बच्चे का ध्यान कौन रखता? रानी ने छोटू को उठाया और तीनों पहुँच गये घर के गेट पर खेलने। उनके माँ-बाप फ़ैक्टरी से रात नौ बजे के पहले नहीं लौटने वाले थे। लौटने के बाद थकी-हारी पिंकी किसी तरह खाना बनाती, खाना बनाते-खाते वे थोड़ी देर टीवी देखते और फिर सब थककर सो जाते – अभाव, थकान और काम के बोझ से भरे एक और दिन की शुरुआत करने के लिए।

अब ज़िन्दगी तूफ़ानों की सवारी करते हुए ही आयेगी इस महादेश में

पूरे देश में ज़ंजीरों के खड़कने और बेड़ियों के घिसटने की आवाज़ें सुनाई दे रही हैं।
चौराहों पर फाँसी के तख़्ते बनाये जा रहे हैं।
हवा में ज़हरीली गैस की बू भरती जा रही है।
नदियों में मछुआरों की नावें फूली हुई, उतराती लाशों से टकरा रही हैं।
बस्तियों पर बुलडोज़र चल रहे हैं।
नीलामी घरों में जंगलों, पहाड़ों, नदियों और बेघर-बेदर भूखे लोगों पर बोलियाँ लगायी जा रही हैं।
इनके बारे में कुछ भी बातें करना देशद्रोह है।
घरों में बत्तियाँ जलाना ख़तरनाक आतंकवादी साज़िश क़रार दे दिया गया है।
शब्दकोषों से कुछ शब्द निकाले जा रहे हैं।
पुस्तकालय जलाये जा रहे हैं।
शिक्षा के परिसरों में हत्यारे दस्तों के शिविर लगे हुए हैं।
इतिहास की सारी किताबें गहरी क़ब्रों में दफ़न की जा रही हैं।
सड़कों पर हत्यारे ज़ोम्बियों के गिरोह घूम रहे हैं।
...
लेकिन दुनिया के जिस पुरातन भूभाग पर यह विकराल दृश्य फैला है, वहीं कुछ पुराने अलावों की आग से जलाने के लिए नयी मशालें तैयार की जा रही हैं।
दूर घाटियों में सपनों और विचारों की पौधशालाओं में सयाने हो रहे पौधे वृक्ष बनने को तैयार हैं।
मेहनत करने वालों की घनी बस्तियों में विचारों के बंकर और बैरीकेड्स बन रहे हैं।
बच्चे तूफ़ानों की सवारी करना सीख रहे हैं।
सबकुछ उलट-पुलट देने वाले तूफ़ान की प्रतीक्षा है।
अब ज़िन्दगी तूफ़ानों की सवारी करते हुए ही आयेगी इस महादेश में, जो आतंक और मृत्यु के सन्नाटे भरे अन्धकार में डूबा हुआ है।
एक महाबवण्डर तो उठना ही है, मौत जैसे इस सन्नाटे से! एक प्रचण्ड वेगवाही चक्रवाती झंझावात!
इस तूफ़ान के ख़िलाफ़ चेतावनी देने वाले वही हैं जिन्होंने मौत के कारख़ानों के मालिकों और व्यापारियों से दलाली खा रखी है।
जो इस तूफ़ान से डरकर तेज़ी से रेंगते हुए अपने बिलों की ओर भागने को तैयार बैठे हैं या बिलों में घुसे हुए बाहर की आहट ले रहे हैं, वे इन्सानी ज़िन्दगी की रंगत, स्वाद और गंध को भूल चुके लोग हैं।
मानवीय पारिस्थितिकी के विनाश ने रेंगने वाली इस विशेष प्रजाति को जन्म दिया है।
इस प्रजाति ने अपनी सभ्यता-संस्कृति का विपुल विकास किया है। इनके पास रेंगने का विज्ञान, दर्शन, सौन्दर्यशास्त्र, समाजशास्त्र ... – सबकुछ है!
अगर अपनी मनुष्यता को बचाये रखना है और स्वाभाविक मनुष्य बने रहना है तो इस प्रजाति के जीवों से सतर्क रहना चाहिए! बहुत संक्रामक होते हैं, सीधे दिमाग़ पर हमला बोलते हैं और संवेदना, तर्कणा और इतिहास-बोध को चाट जाते हैं!

– कविता कृष्णपल्लवी

डाक पंजीयन : SSP/LW/NP-319/2020-2022
प्रेषण डाकघर : आर.एम.एस, चारबाग़, लखनऊ
प्रेषण तिथि : दिनांक 5, प्रत्येक माह

बेहिसाब बढ़ती महँगाई यानी ग़रीबों के ख़िलाफ़ सरकार का लुटेरा युद्ध !

(पेज 1 से आगे)

उद्योगों में 10-10, 12-12 घण्टे काम करके 8000 से 12000 रुपये महीना कमा पाते हैं। इसमें से भी मालिक बात-बात पर पैसे काट लेता है। लगभग एक तिहाई से लेकर आधी मज़दूरी मकान के किराये, बिजली, बस भाड़े आदि में चली जाती है। बाक़ी लगभग सारी कमाई किसी तरह अपने और परिवार का पेट भरने में चली जा रही है। दालें तो ग़रीबों के भोजन से पहले ही ग़ायब हो चुकी थीं, अब आलू-प्याज़-टमाटर-साग जैसी सब्ज़ियाँ भी खा पाना उनके लिए मुश्किल होता जा रहा है।

कुछ वर्ष पहले गुजरात के पाँच ज़िलों में ग़रीबों के परिवारों के बीच एक संस्था के सर्वेक्षण में पाया गया था कि महँगाई के कारण परिवार की आमदनी का 74 प्रतिशत खाने-पीने पर ख़र्च हो जाता है। पहले जो परिवार सुबह नाश्ता, फिर दिन और रात का खाना खाते थे उनमें से 60 प्रतिशत अब दिन में सिर्फ़ दो बार खाते हैं। 57 प्रतिशत लोग बहुत ज़रूरी होने पर ही डॉक्टर के पास जाते हैं। 40 प्रतिशत परिवारों में चाय के लिए दूध का इस्तेमाल बन्द हो गया है। महँगाई के कारण बहुत से लोग बस आदि के बजाय कई-कई किलोमीटर पैदल चलकर काम पर जाते हैं। आज ऐसी हालत देश के लगभग सभी राज्यों में है। पिछले वर्ष के लॉकडाउन के बाद से देश के करोड़ों मेहनतकशों पर मुसीबतों का पहाड़ और भी वज़नी हो गया है।

ऐसी भीषण महँगाई के पहले ही हालत यह थी कि देश की तीन-चौथाई आबादी के भोजन में विटामिन और प्रोटीन जैसे ज़रूरी पौष्टिक तत्व लगातार कम होते जा रहे थे। इसी का नतीजा है कि कुपोषण के कारण कम वज़न वाले बच्चों की सबसे बड़ी संख्या भारत में है। कुछ वर्ष पहले प्रसिद्ध अर्थशास्त्री उत्सा पटनायक ने एक अध्ययन में बताया था कि देश में प्रति व्यक्ति खाद्य पदार्थों की औसत उपलब्धता बंगाल में 1942-43 में आये भीषण अकाल के दिनों के बराबर पहुँच चुकी है। ग्रामीण क्षेत्रों में बहुतेरे परिवारों को दोनों वक़्त या सप्ताह के सातों दिन भरपेट खाना नहीं मिलता। मनमोहन सिंह सरकार ने स्वीकार किया था कि रोज़ लगभग तीन हज़ार बच्चे कुपोषण और उससे होने वाली बीमारियों के कारण मर जाते हैं। विशेषज्ञों के अनुसार वास्तविक संख्या इससे बहुत अधिक है।

पिछली 21 मई को संयुक्त राष्ट्र की संस्था यूनिसेफ़ ने भारत सरकार को चेतावनी दी कि अगले 6 महीने में पाँच वर्ष से कम के 12 लाख अतिरिक्त बच्चे कुपोषण के कारण मर सकते हैं। कहने की ज़रूरत नहीं कि कुपोषण के कारण मौत के मुँह में समाने वाले ये 12 लाख अतिरिक्त बच्चे उन्हीं मेहनतकशों के बच्चे हैं जिन्हें महामारी के बीच भूख और खाने की कमी झेलनी पड़ रही है। आर्थिक तंगी और काम-धन्धा चौपट होने के साथ ही स्कूल बन्द होने से मिड डे मील भी न मिल पाना करोड़ों बच्चों की भुखमरी को बढ़ा रहा है। इसी वर्ष 'सेण्टर फ़ॉर साइंस एण्ड एनवायरनमेण्ट' की सालाना रिपोर्ट 'भारत के पर्यावरण की स्थिति 2021' में कहा गया था, "कोविड-19 महामारी के कारण भारत में 37.5 करोड़ बच्चों को भूख, कुपोषण, अशिक्षा और कई अनदेखी परेशानियों का सामना करना होगा। इसका प्रभाव कई दशकों तक दिखायी देगा।" इस रिपोर्ट में यह भी बताया गया है कि भारत में क़रीब 9.4 करोड़ बच्चे लॉकडाउन के कारण मिड डे मिल से वंचित रहे। बढ़ती उम्र में भूख और

कुपोषण का बुरा असर बच्चों की सेहत पर लम्बे समय तक पड़ेगा।

राष्ट्रीय पोषण निगरानी ब्यूरो द्वारा 2015-16 में शहरी आबादी के बीच किये गये सर्वे में पाया गया कि औसत खानपान में प्रोटीन, कैल्शियम, आयरन, थियामिन, नियासिन आदि पोषक तत्वों की काफ़ी कमी है। विटामिन ए और रिबोफ़्लाविन जैसे ज़रूरी विटामिन की तो भीषण कमी पायी गयी। ध्यान देने की बात है कि शहरों की एक बड़ी आबादी काफ़ी अच्छा खाना खाती है, इसलिए औसत कमी का मतलब यह होता है कि ग़रीबों की भारी आबादी में वास्तविक कमी सरकारी आँकड़ों से कहीं ज़्यादा होती है। राष्ट्रीय पोषण निगरानी ब्यूरो ने आख़िरी बार 2012 में ग्रामीण भारत के खानपान का सर्वे किया था। इसके अनुसार 1979 के मुक़ाबले 2012 में औसतन हर ग्रामीण को 550 कैलोरी ऊर्जा, 13 ग्राम प्रोटीन, 5 मिग्रा आइरन, 250 मिग्रा कैल्सियम और 500 मिग्रा विटामिन ए प्रतिदिन कम मिल रहा था। पिछले 7-8 सालों में इसमें और गिरावट आयी होगी, यह बात विभिन्न रिपोर्टों के आधार पर पक्के तौर पर कही जा सकती है। कोरोना आने से पहले ही, 2019 में एक रिपोर्ट में यह बात सामने आयी थी कि पिछले 45 वर्षों में पहली बार ग्रामीण आबादी की आय में कमी आ गयी थी।

दिल्ली और मुम्बई सहित शहरों की झुग्गी-झोंपड़ियों में रहने वाले करोड़ों बेहद ग़रीब लोग भूख और कुपोषण के बुरी तरह शिकार हैं। जैसे-जैसे हम भारत के आर्थिक महाशक्ति बनने की चर्चा सुनते हैं, भूख से पीड़ित लोगों की तादाद घटने के बजाय बढ़ती जाती है। अक्टूबर 2020 में जारी हुए विश्व भूख सूचकांक 2020 में भारत 107 देशों में से 94वें स्थान पर था और उसे "गम्भीर" भुखमरी के शिकार देशों की श्रेणी में रखा गया था। 2019 में भारत 117 देशों में 102वें स्थान पर था। भारत की स्थिति नेपाल (73), पाकिस्तान (88), बांग्लादेश (75) जैसे देशों से बहुत नीचे है। सिर्फ़ गृहयुद्ध से तबाह रवाण्डा, नाइजीरिया, अफ़ग़ानिस्तान, लाइबेरिया, चाड जैसे 13 देश भुखमरी में भारत से पीछे हैं। यूनीसेफ़ के अनुसार भारत में हर साल 5 वर्ष से कम आयु के 10 लाख बच्चे कुपोषण सम्बन्धी कारणों से मृत्यु का शिकार होते हैं। सामान्य से कम वज़न वाले 5 साल तक के बच्चों की संख्या का विवरण देखें तो पता लगेगा कि विकसित देशों को तो भूल ही जाइए, ब्राज़ील, चीन, दक्षिण अफ़्रीका जैसे तीसरी दुनिया के देश भी छोड़िए, शहरी बच्चों के कुपोषण के मामले में हम बांग्लादेश-पाकिस्तान से भी गये गुज़रे हैं! भारत में यह तादाद जहाँ 34% है वहीं बांग्लादेश में 28%, पाकिस्तान में 25%, दक्षिण अफ़्रीका में 12%, ब्राज़ील में 2% और चीन में 1% है!

भारत की राजधानी दिल्ली और आर्थिक राजधानी कहे जाने वाले मुम्बई से बाक़ी शहरों की स्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है। इन दोनों की कुल जनसंख्या के लगभग आधे, यानी क़रीब ढाई करोड़ लोग झोंपड़पट्टी में रहते हैं जो भारी भीड़, ग़रीबी और कुपोषण के केन्द्र हैं। एक अच्छी-ख़ासी आबादी फ़ुटपाथों पर भी रहती है। यहाँ अधिकांश मज़दूर परिवारों में बच्चों के लिए भी दूध नहीं नसीब होता। मज़दूर औरतें जाकर अपने बच्चे के 'बॉडी मास इण्डेक्स' की जाँच तो नहीं करा सकती हैं, लेकिन देखकर ही जाना जा सकता है कि ये बच्चे कुपोषण के शिकार होते हैं। सरकारी पैमाने से औद्योगिक मज़दूर को प्रतिदिन कम से कम 2700 कैलोरी भोजन मिलना चाहिए। भारी काम करने वालों को कम से कम 3000 कैलोरी मिलना चाहिए। लेकिन वास्तव में अधिकतर मज़दूर रोज़-रोज़ जो खाना खाते हैं उससे पेट भले ही भर जाये, मगर दिन भर काम करने के लिए ज़रूरी सन्तुलित और पौष्टिक भोजन वह नहीं होता। ऊपर से, इन मज़दूरों को कभी भी पूरा आराम नहीं मिलता। ज़्यादातर मज़दूर रोज़ 12-13 घण्टे काम करते हैं, और अक्सर हफ़्ते में सातों दिन बिना छुट्टी के काम करते हैं। ऐसे में शरीर अन्दर ही अन्दर कमज़ोर होता जाता है।

विश्व स्वास्थ्य संगठन के पैमाने से अगर किसी इलाक़े की 60 प्रतिशत आबादी कुपोषण की शिकार है, तो उस इलाक़े को "अकालग्रस्त" घोषित करके राहत के विशेष उपाय करने चाहिए। इस पैमाने के हिसाब से तो देश की राजधानी दिल्ली की आधी से ज़्यादा आबादी को तत्काल "अकालग्रस्त" घोषित किया जाना चाहिए! निश्चित ही, भारत सरकार ऐसा नहीं करेगी। क्योंकि ऐसा करने का मतलब होगा यह स्वीकार करना कि तथाकथित विकास की उसकी नीतियाँ ऊपर की 15 प्रतिशत आबादी के लिए ख़ुशहाली का स्वर्ग और बाक़ी जनता के लिए बदहाली का नर्क पैदा कर रही हैं। देश के क़रीब 60 प्रतिशत बच्चे ख़ून की कमी से ग्रस्त हैं और 5 साल से कम उम्र के बच्चों की मौत के 50 फ़ीसदी मामलों का कारण कुपोषण होता है। संयुक्त राष्ट्र की एक रिपोर्ट के अनुसार 63 फ़ीसदी भारतीय बच्चे अक्सर भूखे सोते हैं और 60 फ़ीसदी कुपोषण ग्रस्त हैं। दिल्ली में अन्धाधुन्ध "विकास" के साथ-साथ झुग्गियों या कच्ची बस्तियों में रहने वालों की संख्या बहुत तेज़ी से बढ़ी है और लगभग 70 लाख तक पहुँच चुकी है। इन बस्तियों में न तो साफ़ पीने का पानी है और न ही शौचालय और सीवर की उचित व्यवस्था है। जगह-जगह गन्दा पानी और कचरा इकट्ठा होकर सड़ता रहता है, और पहले से ही कमज़ोर लोगों के शरीर अनेक बीमारियों का शिकार होते रहते हैं।

दरअसल क़ीमतें बढ़ने के लिए पूँजीवादी नीतियाँ ही ज़िम्मेदार हैं। महँगाई की असली वजह यह है कि खेती की उपज के कारोबार पर बड़े व्यापारियों, सटोरियों और कालाबाज़ारियों का क़ब्ज़ा है। ये ही जिन्सों (चीज़ों) के दाम तय करते हैं और जानबूझकर बाज़ार में कमी पैदा करके चीज़ों के दाम बढ़ाते हैं। धनी किसान और पूँजीवादी फ़ार्मर जिस एमएसपी यानी लाभकारी मूल्य की लड़ाई लड़ रहे हैं, उससे भी देश की बहुसंख्यक आबादी के लिए क़ीमतों में बढ़ोत्तरी ही होगी। अभी तेल के दामों में भारी बढ़ोत्तरी के पीछे एक कारण यह भी है कि बड़े किसानों ने खुले बाज़ार में जमकर तिलहन को ऊँचे दामों पर बेचा।

बड़े पूँजीवादी घरानों के खेती के बाज़ार में घुसने के साथ जमाख़ोरी और घोटालों में बढ़ोत्तरी ही हुई है। मोदी सरकार के तीन खेती क़ानूनों में जो मज़दूरों और व्यापक आबादी के हित के ख़िलाफ़ है, वह है आवश्यक वस्तुओं के क़ानून में परिवर्तन। इस क़ानून के ज़रिए उन तमाम बुनियादी वस्तुओं की जमाख़ोरी, कालाबाज़ारी और उनकी क़ीमतों में कृत्रिम रूप से बढ़ोत्तरी करने की व्यापारिक पूँजी और दलाल बिचौलिये वर्ग की क्षमता बढ़ेगी जिसका एक उदाहरण हम ऊपर देख चुके हैं। व्यापारिक पूँजीपति वर्ग और साथ ही धनी किसान व कुलक वर्ग इन वस्तुओं की जमाख़ोरी करके कृत्रिम अभाव की स्थिति पैदा करेंगे और क़ीमतों को इस तरीक़े से बढ़ाकर ज़्यादा मुनाफ़ा कमायेंगे।

मेहनतकश जनता की मज़दूरी में लगातार आ रही गिरावट के कारण उसकी ख़रीदने की क्षमता कम होती जा रही है। दिहाड़ी पर काम करने वाली लगभग 50 करोड़ आबादी आज से 10 साल पहले जितना कमाती थी आज भी बमुश्किल उतना ही कमा पाती है जबकि क़ीमतें दोगुनी-तीन गुनी हो चुकी हैं। इससे ज़्यादा मानवद्रोही बात और क्या हो सकती है कि जिस देश में आज भी करोड़ों बच्चे रोज़ रात को भूखे सोते हैं वहाँ 35 से 40 प्रतिशत अनाज गोदामों और रखरखाव की कमी के कारण सड़ जाता है। एक्सप्रेस-वे, अत्याधुनिक हवाईअड्डों, स्टेडियमों आदि पर लाखों करोड़ रुपये ख़र्च करने वाली सरकारें आज तक इतने गोदाम नहीं बनवा सकीं कि लोगों का पेट भरने के लिए अनाज को सड़ने से बचाया जा सके।

महँगाई पूँजीवादी समाज में ख़त्म हो ही नहीं सकती। जब तक चीज़ों का उत्पादन और वितरण मुनाफ़ा कमाने के लिए होता रहेगा, तब तक महँगाई दूर नहीं हो सकती। कामगारों की मज़दूरी और चीज़ों के दामों में हमेशा दूरी बनी रहेगी। इसीलिए मज़दूर वर्ग सिर्फ़ अपनी मज़दूरी में बढ़ोत्तरी के लिए लड़कर कुछ नहीं हासिल कर सकता। मज़दूरों को मज़दूरी बढ़ाने के लिए लड़ने के साथ-साथ मज़दूरी की पूरी व्यवस्था को ख़त्म करने के लिए भी लड़ना होगा। एक ऐसा समाज बनाने के लिए लड़ना होगा जहाँ उत्पादन के साधनों पर मुट्ठीभर थैलीशाहों का क़ब्ज़ा न हो, और मेहनत के फल सभी के लिए बराबरी से उपलब्ध हों।

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी कात्यायनी सिन्हा द्वारा 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 से प्रकाशित और उन्हीं के द्वारा मल्टीमीडियम, 310, संजय गांधी पुरम, फ़ैज़ाबाद रोड, लखनऊ से मुद्रित। सम्पादक : अभिनव ● सम्पादकीय पता : 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006